मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि

मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि

आचार्य तुलसी

संपादिका : साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

श्री फतेहचैन भंसाली
ट्रस्टी - श्रीमती झमकूदेवी भंसाली मेमोरियल ट्रस्ट, सुजानगढ-कलकत्ता
सी. आर. बी. कैपिटल मार्केट्स लि., ३१ मर्जबन रोड, बम्बई के
सौजन्य से

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रवंधक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : पंतीस रुपये/ तृतीय संस्करण : १६६५, मुद्रक : पवन प्रिन्टर्स, दिल्ली-३२

MERA DHARM · KENRA AUR PARIDHI . by Acharya Tulsı Rs 35 00

प्राथमकी

धर्म एक अखण्ड सत्य है। उसे न तो खण्डो मे विभक्त किया जा सकता है और न अपने-पराए के भेदो मे बाधा जा सकता है। वह व्यापक है, शाश्वत है, सार्वभौम है और सार्वजनीन है। जैसे सूरज का उजाला एक और अविभाज्य होता है, वैसे ही धर्म भी एक है और अविभक्त है।

एक, अविभक्त और व्यापक सत्य भी जब शब्दो के घेरे मे आता है तो विभक्त हुए विना नही रहता। यही कारण है कि धर्म की अनेक परिभाषाए और अनेक व्याख्याए हो गई । परिभाषाओ के गहन जंगल मे प्रविष्ट होकर मैने जिस सत्य को पकडा है, उसे मै मेरा धर्म कहने का अधिकारी हूं। मै एक सम्प्रदाय का आचार्य हूं। उसकी परिधि से घिरा हुआ हू, फिर भी मैं धर्म को सम्प्रदाय से भिन्न मानता हू।

सम्प्रदाय को मैं उपयोगी मानता हू, यदि वह धर्म का प्रतिविम्बग्राही हो। जव सम्प्रदाय कोरा सम्प्रदाय रह जाए, उसमे धर्म का प्रतिबिम्ब लेने की क्षमता न रहे, उस स्थिति मे वह अनिष्ट भी हो जाता है। किन्तु अनिष्ट की संभावना को ध्यान मे रखकर इष्ट को त्यागा नही जा सकता। अनिष्ट से बचने की सावधानी रखी जानी चाहिए, पर उसके भय से इष्ट को छोडने की वात उतनी ही अव्यावहारिक है, जितनी अजीर्ण के भय से भोजन छोडने की वात। अजीर्ण का खतरा हो तो भोजन मे सावधानी वरती जा सकती है, गरिष्ठ और अपथ्य भोजन का त्याग किया जा सकता है, पर पूरे भोजन को छोडने की वात कोई समाधान नही है।

सत्य या धर्म को समझने और उपलव्ध करने मे सम्प्रदाय का वहुत वडा हाथ रह सकता है। मै स्वय व्यापक सत्य के निकट पहुंचा, इसमे मेरे सम्प्रदाय के व्यापक एव उदार दृष्टिकोण का योग है। यही कारण है कि मेरा प्रथम परिचय एक मानव के रूप मे होता है। मै अपने आपको तेरापथ का आचार्य सवसे वाद मे मानता हूं। मेरी अपनी मान्यता के अनुसार सत्य या धर्म स्कूल का समग्र भवन है, जवकि उसका एक-एक कक्ष सम्प्रदाय के रूप मे काम करता है। जव तक धर्म और सम्प्रदाय का सम्वन्ध इस सीमा मे रहता है, तव तक सम्प्रदाय कोई समस्या नहीं वनता। किन्तु जव सम्प्रदायो

मे साम्प्रदायिकता और जातीयता की दीवारें खड़ी हो जाती है, विचारो के राजपथ मानसिक संकीर्णता की गलियों में बदल जाते है, वहां सम्प्रदाय से धर्म का अनुबन्ध टूट जाता है। प्राण चला जाता है और सजा-सवरा निष्प्राण शरीर पडा रह जाता है।

आज धर्म बुद्धि की कसौटी पर चढा हुआ है। वैज्ञानिक युग है। तर्क का बोलबाला है। बौद्धिक विकास की बाढ आ रही है। स्वतंत्र चिन्तन का मूल्य बढ रहा है। इस स्थिति में धर्म की रूढ़ धारणाएं अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकती। आज उसी धर्म का अस्तित्व रह सकता है, जिसमे बौद्धिक चुनौतियो को झेलने की क्षमता हो। सत्य बुद्धि से अधिक सशक्त है, इसलिए वह स्वयं प्रमाण है। उसकी अनुभूति आंतरिक पवित्रता से ही की जा सकती है। मैने धर्म को इसी अर्थ में स्वीकार किया है।

अपनी धर्मानुभूति को मैं दूसरो पर थोपना नहीं चाहता। मनवाने में मेरा विश्वास बहुत कम है। किन्तु प्रेरणा मे मेरा विश्वास है। मैं मानता हूं कि किसी व्यक्ति को डंडे के बल पर नही हांका जा सकता। उसे सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा दी जा सकती है। प्रेरणा से उसकी दिशा बदले, यह बदलाव का तरीका है। 'मेरा धर्म : केन्द्र और परिधि' इसी उद्देश्य को फलित करने का एक उपक्रम है।

धर्म को सम्प्रदाय से ऊपर मानने का सस्कार हमे भगवान महावीर से मिला। आचार्य भिक्षु ने इस सस्कार को व्यावहारिक रूप दिया। इसका प्रयोग करने का सौभाग्य मुझे मिला। अणुव्रत सम्प्रदायविहीन धर्म है। इसे लेकर मै जन-जन तक पहुचा हूं, धर्म और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अपनी धारणाओ को स्पष्ट करता रहा हूं। इस विषय मे कुछ वर्ष पूर्व लिखे गए निबन्धो का एक सकलन प्रकाशित हुआ था। वह सकलन अव परिवर्धित रूप मे पाठकों के हाथों मे पहुच रहा है। पाठक इसे पढकर धर्म और सम्प्रदाय संबंधी भ्रान्तियों का निराकरण करे, अपनी अवधारणाओं को स्पष्ट और व्यापक वनाएं, यही इसकी सार्थकता है।

आचार्य तुलसी

श्रीडूंगरगढ़
१ नवम्वर, १६८८

अनुक्रम

धर्म का तेजस्वी रूप

धर्म केवल वौद्धिक उपलब्धि नहीं है, वह मनुष्य की स्वाभाविक एषणा है। आत्मा है पर वह शरीर और कर्म के आवरण से आवृत्त है, इसलिए अज्ञात है। आवरण से चैतन्य ढका हुआ है पर उसका अस्तित्व विस्मृत नहीं है। सूर्य वादल से ढका हुआ है पर वह अस्त नहीं है। दिन और रात का विभाग करने में वह क्षम है। यह अस्तित्व की स्मृति ही धर्म की स्वाभाविक एषणा है। आवरण की तरतमता के कारण कुछ लोगों में धर्म की एषणा अव्यक्त होती है और कुछ लोगो मे व्यक्त। अपने-आपको नास्तिक मानने वाले भी धर्म की एषणा से मुक्त नही होते।

मनुष्य हर प्रवृत्ति के वाद विराम चाहता है। वह क्या है ? अन्तर की ओर गति। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति मनुष्य को वाह्य जगत् मे ले जाती है। किन्तु कुछ समय वाद मन लौटकर भीतर की ओर जाना चाहता है, वाणी मौन होना चाहती है और शरीर शिथिल। शरीर की शिथिलता, वाणी का मौन और मन का अन्तर् में विलीन होना ध्यान है और यही आत्मा का स्वाभाविक रूप है और यही धर्म है।

धर्म है आत्मा से आत्मा को देखना, आत्मा से आत्मा को जानना और आत्मा से आत्मा मे स्थित होना।

धर्म का अर्थ है द्रव्य का स्वभाव। जो आत्मा का स्वभाव है, वह धर्म है। जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह धर्म नही है। धर्म का अर्थ है, वस्तु का स्वरूप।

शून्यीभवदिदं विश्वं, स्वरूपेण धृत यतः।
तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि, प्राहुर्धर्मं महर्षय.।।

यह विश्व पर्यायों से शून्य होता रहता है। पर्याय या अवस्था के नष्ट हो जाने पर भी वह स्वरूप द्वारा धृत रहता है, वस्तु-स्वरूप धर्म कहलाता है।

आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति के साथ जो एकरसता है, वह धर्म है। आत्मा की मोह, क्षोभ आदि आवेगों से रहित परिणति है, वह धर्म है।

धर्म की विभिन्न भाषाएं है पर उन सबका सार है स्वरूप में स्थित रहने का अभ्यास। धर्म की यह भाषा जितनी आन्तरिक है उतनी ही तर्क-संगत। अपने-आपको अधार्मिक मानने वाला भी धर्म की इस भाषा से विरक्त नही है। धर्म के प्रति जो विरक्ति है, वह उस धर्म के प्रति है, जिसमें आन्तरिकता का स्पर्श नहीं है। जहां आचार की गौणता और उपासना की प्रधानता है, वहां सहज ही बौद्धिक द्वन्द्व होता है और वह व्यक्ति को धर्म-विमुख बना देता है।

क्या घृणा करने वाला व्यक्ति धार्मिक है ? एक ओर उपासना और दूसरी ओर घृणा। क्या यह योग किसी बुद्धिवादी व्यक्ति को धर्म की ओर आकृष्ट करने वाला है।

क्या शोषण करने वाले व्यक्ति धार्मिक हैं ? एक ओर दया और दूसरी ओर शोषण। क्या यह योग किसी विचारशील व्यक्ति को धर्म की ओर आकृष्ट करने वाला है ?

धार्मिक सबके साथ प्रेम करता है इसलिए वह घृणा नहीं कर सकता। धार्मिक व्यक्ति सब जीवों को आत्म-तुल्य मानता है, इसलिए वह किसी का शोषण नहीं कर सकता। जो घृणा और शोषण करता है, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

धर्म की रुचि और उसका आचरण—ये दो भिन्न पहलू हैं। जो लोग अपने-आपको धार्मिक मानते हैं, उनमें अधिकांश धर्म-रुचि मिलेंगे, धार्मिक बहुत कम। जो लोग अपने-आपको अधार्मिक मानते है, उनमें भी कुछ लोग धार्मिक मिलेंगे।

एक विचार-गोष्ठी की सम्पन्नता पर एक दैनिक पत्र के सम्पादक ने कहा—'आपने धर्म की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार मै भी अपने-आपको धार्मिक कह सकता हूं।'

धार्मिकता अन्त.करण की पवित्रता है। वह धर्म की रुचि होने मात्र से प्राप्त नही होती, उसकी साधना से प्राप्त होती है। साधना करने वाले धार्मिक वहुत कम हैं। अधिकांश धार्मिक सिद्धि चाहने वाले हैं। वे धर्म को इसलिए नही चाहते कि उससे जीवन पवित्र बने किन्तु वे उसे इसलिए चाहते है कि उससे भोग मिले। आज का धर्म भोग से इतना आच्छन्न है कि त्याग और भोग के बीच कोई रेखा ही नही जान पडती। धर्म का क्रान्तिकारी रूप तब होता है, जब वह जन-मानस को भोग-त्याग की ओर अग्रसर करे। आज त्याग भोग के लिए अग्रसर हो रहा है। यह वह कीटाणु है जो धर्म के स्वरूप को विकृत बना डालता है। मै मानता हूं, धर्म जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है। जहां उसकी पूर्ति नही होती, वहां जीवन में एक अभाव की पूर्ति कभी नही होती। वह है मानसिक संतुलन का अभाव। मानसिक संतुलन का अभाव अर्थात् शान्ति का अभाव। शान्ति का अभाव अर्थात् सुखानुभूति का अभाव। पदार्थ सुख के हेतु हैं, उनसे सुख की अनुभूति नही होती। सुख की अनुभूति मन और मन-संयुक्त इन्द्रियों को होती है। वह तभी होती है, जब मन संतुलित और शान्त होता है।

वैज्ञानिक साधनो के विकास से पदार्थ का विस्तार हुआ है पर उससे मनुष्य के सुख का विस्तार हुआ है—यह कहना सरल नही है।

पदार्थ-विस्तार और सुखानुभूति, ये दो विकल्प हैं। कभी मनुष्य पदार्थ-विस्तार को प्राथमिकता देता है और सुखानुभूति को दूसरा स्थान। कभी मनुष्य सुखानुभूति को प्राथमिकता देता है और पदार्थ-विस्तार को दूसरा स्थान, प्रथम विकल्प में त्याग संग्रह से प्रभावित होता है और दूसरे विकल्प मे संग्रह त्याग से प्रभावित होता है। वर्तमान युग इसी समस्या से आक्रान्त है। आज त्याग संग्रह से प्रभावित है।

मै देखता हूं, जहां त्याग और भोग की रेखाएं आस-पास आती हैं, धर्म अर्थ से सयुक्त होता है, वहां धर्म अधर्म से अधिक भयंकर बन जाता है। यदि हम चाहते है धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो तो हम उसके विशुद्ध रूप का अध्ययन करें। हम उस युग में धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की वात कर रहे है, जिस युग का नाम उपलब्धि की दृष्टि से वैज्ञानिक, शक्ति की दृष्टि से आणविक और शिक्षा की दृष्टि से बौद्धिक है। क्या अबौद्धिक, अवैज्ञानिक और शक्तिहीन पद्धति से धर्म का उत्कर्ष सम्भव है ? आज ऐसे धर्म क

आवश्यकता है, जो बुद्धि से प्रताड़ित न हो, विज्ञान से प्रतिहत न हो और शक्ति से हीन न हो।

उपासनात्मक धर्म अनावश्यक नहीं है पर केवल उपासनात्मक धर्म पर्याप्त भी नहीं है। वह ज्ञान, दर्शन और आचार से सम्बद्ध होकर ही युग की चुनौती का सामना कर सकता है।

शाश्वत सत्य के साथ सामयिक मान्यताओं और सामाजिक विधि-विधानों का योग भी धर्म तक पहुंचने में बाधा है।

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बन्धन से मुक्त किन्तु समाज, राजनीति और आर्थिक क्षेत्र को प्रभावित करने वाला धर्म ही वास्तव में प्रभावशाली हो सकता है। धर्म से आत्मोदय होता है, यह उसका वैयक्तिक स्वरूप है। उसका प्रभावशाली होना उसका सामाजिक स्वरूप है। ये दोनों रूप आज अपेक्षित हैं। ये शाश्वत और परिवर्तन की मर्यादा को समझने से ही प्राप्त हो सकते हैं।

हिन्दू : नया चिन्तन, नयी परिभाषा

आज हम विश्व-हिन्दू धर्म सम्मेलन के माध्यम से हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति पर चिन्तन करने के लिए यहां एकत्र हुए हैं। जो एकत्र हैं, उनमें वैदिक, जैन, वौद्ध, सिक्ख आदि अनेक धर्मों के प्रवक्ता हैं। सब प्रवक्ता हिन्दू-धर्म के वारे मे अपने-अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। इस विषय में मुझे कई बार चिन्तन का अवसर मिला है। मेरे सम्मुख अनेक बार यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि जैन लोग हिन्दू है या नहीं ?

मैने इस प्रश्न पर गहराई से चिन्तन किया। चिन्तन के पश्चात् मैं जिस निष्कर्प पर पहुंचा, वह मैने प्रश्नकर्ताओ को वताया। आज मैं आप सबके सामने अपना विचार प्रस्तुत कर रहा.हूं। मेरे चिन्तन का मुख्य विषय है, 'हिन्दू' शब्द का अर्थ क्या है ? वैदिक का अर्थ स्पष्ट है—जो वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करता है, वह वैदिक है। जो जिन अर्थात् तीर्थंकर की वाणी को प्रमाण मानता है, वह जैन है। बुद्ध का अनुगमन करने वाला वौद्ध है। पर हिन्दू न तो कोई शास्त्र है और न कोई व्यक्ति।

आरम्भ मे हिन्दू शव्द किसी जाति या धर्म का वाचक नहीं रहा है। मेरे अभिमत में उसका सम्वन्ध भौगोलिक स्थिति से था। इसका उद्गम सिन्धु नदी से है। सिन्धु नदी के इस पार रहने वाले लोगों को उस पार के लोगों ने हिन्दू नाम दिया। यह सिन्धु का ही उच्चारण-भेद है। इस शव्द का उत्कर्ष हुआ और यह वहुत व्यापक वन गया। आज यह धर्म और संस्कृति के साथ भी सम्वद्ध है। किन्तु इस शताव्दी में हिन्दू शव्द की जो परिभाषाएं लिखी गई है, उनमें से कुछ परिभाषाएं ऐसी है, जो हिन्दू शव्द की व्यापकता को सकीर्ण वनाती है। वेद या अन्य किसी शास्त्र के साथ

हिन्दू शब्द को जोड़ने का अर्थ ही है, उसे संकुचित बनाना। सब भारतीय धर्म किसी एक ही शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते हैं, इस स्थिति में उसे शास्त्र के साथ जोड़ना कैसे उपयुक्त हो सकता है ?

इस चिन्तन के आधार पर मैंने प्रश्नकर्ताओं से कहा—हिन्दू का अर्थ यदि किसी अमुक शास्त्र को मानने वाला हो तो जैन हिन्दू नहीं है और यदि उसका अर्थ भारतीय सन्तति हो तो जैन हिन्दू हैं। भारतीय होना किसी सिद्धान्त या मान्यता पर आश्रित नहीं है। जो व्यक्ति भारत को अपनी मातृभूमि तथा पुण्यभूमि माने, वह भारतीय और शेष अभारतीय—यह परिभाषा मुझे तथ्य पर आधारित नहीं लगती। कोई व्यक्ति क्या मानता है, इस आधार पर इसकी राष्ट्रीयता मान्य नहीं होती, किन्तु वैधानिक दृष्टि से वह जिस देश का नागरिक होता है, वही उसकी राष्ट्रीयता होती है। भारत की राष्ट्रीयता जिसे प्राप्त है, वह भारतीय है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानी होने के कारण वह हिन्दू है।

सहस्राब्दी पूर्व भारतीय लोग प्रादेशिकता के आधार पर बंगाली, बिहारी, मारवाड़ी, गुजराती आदि-आदि कहलाते थे और भौगोलिकता की दृष्टि से भारतीय या भारतवासी कहलाते थे। इनमें विभिन्न जातियां थीं और विभिन्न धर्म थे। किन्तु उनके आधार पर जनता का नामकरण नहीं हुआ था।

मुसलमान जब प्रतिपक्षी के रूप में व्यवस्थित हुए तव मूल भारतवासी लोग हिन्दू के रूप में संगठित हुए। कुछ समय बाद हिन्दू और मुसलमान दो परस्पर विरोधी धाराएं निश्चित हो गई। उनके सामने भौगोलिकता तथा राष्ट्रीयता गौण हो गई और साम्प्रदायिकता मुख्य। यदि उस समय हिन्दू शब्द जाति या धर्म के रूप में विकसित नही होता तो राष्ट्रीयता की दृष्टि से मुसलमान भी हिन्दू होते। जैसे वैदिक धर्म, शैव धर्म, जैन धर्म, वौद्ध धर्म आदि-आदि थे, वैसे ही मुसलमान का सम्बन्ध धर्म के साथ होता और राष्ट्रीयता के प्रति द्वैधभाव उत्पन्न नहीं होता।

आज हिन्दू शव्द की परिभापा को फिर से परिष्कृत कर राष्ट्रीयता के साथ सम्वद्ध करना आवश्यक है। ऐसा करने पर भारतीय और हिन्दू पर्यायवाची हो जायेंगे और हिन्दू शव्द अपनी व्यापकता को पुनः प्राप्त कर लेगा।

जन-गणना के समय धर्म के कोप्ठ में हिन्दू का कोप्ठक स्वयं

विघटनकारी है। इसके स्थान पर वैदिक आदि उपयुक्त शब्द का चुनाव अधिक संगत हो सकता है।

मेरा अभिमत है कि आधुनिक भारतीय संस्कृति के निर्माण में वैदिक, जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सब धर्मो का योग है। इसलिए हिन्दू धर्म का अर्थ हिन्दुस्तान मे चलने वाला धर्म किया जाय तो अधिक स्वस्थता प्राप्त होगी। हिन्दू शब्द को हम उस अर्थ में ले जाएं कि जिन धर्मो की उत्पत्ति हिन्दुस्तान की भूमि में हुई, वे धर्म हिन्दू हैं और शेष हिन्दू नहीं हैं। मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि धर्म, जिनका उद्गम भारतभूमि नहीं है, हिन्दू धर्म नही माने जा सकते, ऐसा चिन्तन वहुत बार सामने आता है। पर आप इतिहास की दृष्टि से देखें तो उद्गम और विकास दोनो धर्म की अभिधा के मूल रहे हैं। बौद्ध धर्म उद्गम की दृष्टि से विशुद्ध भारतीय धर्म है पर विकास की दृष्टि से क्या वह चीनी या जापानी धर्म नही है ? यदि है तो हिन्दुस्तान मे विकास या प्रसार पाने वाले धर्म हिन्दुस्तानी (हिन्दू) धर्म क्यो नही हो सकते ?

हिन्दू संस्कृति संग्राहक, उदार और व्यापक सस्कृति है। उसमें स्वीकरण के तत्त्व जितने अधिक होंगे, उतनी ही वह तेजस्वी होगी। यदि हम संग्राहक शक्ति में विश्वास करते हैं, जैसा कि कभी हमारे पूर्वजों ने किया था, तो हम आज हिन्दू शब्द की ऐसी परिभाषा गढ़ें जिसमे हिन्दुस्तान की भूमि में उपजने वाले और फलने वाले—दोनों प्रकार के तत्त्व समाविष्ट हो जाएं।

जिम देश में अनेक जातिया और अनेक धर्म हों, वहां उनमें से किसी एक जाति या धर्म से सम्बद्ध शब्द को व्यापकता प्राप्त नही हो सकती। व्यापकता उसी को मिल सकती है, जो उन सवका सामान्य आधार है। किसी भी जाति या धर्म के लोग हों, वे सब भारतवासी है, अतः भारतीय हैं। वे सव हिन्दुस्तानी हैं, अतः हिन्दू हैं।

इस परिभापा के विकास मे मुझे अनेक समस्याओं का समाधान दीख रहा हे। वर्तमान पीढ़ी की अपेक्षा भावी पीढ़ी हमसे अधिक लाभान्वित होगी।

प्राचीन काल में जाति और धर्म मनुष्यों का संग्रह करते थे। इसी आधार पर अनेक जातियां और अनेक धर्म विकसित हुए।

सव मनुष्यो की रुचि समान नहीं होती, इसलिए वे अनेक जातियां

तथा अनेक धर्मो मे विभक्त हुए। उस विभाजन का परिणाम जो हुआ, वह सबके सामने है। विभाजन के परिणामों को देखने के बाद भी क्या हम ऐसा नहीं सोच सकते कि विभाजन रेखाएं किसी एक तत्त्व या शब्द में इतनी संश्लिष्ट हो जाएं कि फिर उनके द्वारा मनुष्य मनुष्य का शत्रु न बने।

हम सब मनुष्य हैं, इसलिए हम सबकी जाति एक है और वह है मनुष्यजाति।

हम सब धार्मिक हैं, इसलिए हम सबका एक धर्म है और वह है सत्य।

वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सत्य-शोध की धाराएं रहें और हिन्दू शब्द उन सबका संग्राहक बने—इस सम्मेलन में यह परिणाम निष्पन्न होना चाहिए।[१]

१. ६ दिसम्बर, १९६५ को विज्ञान भवन, नयी दिल्ली मे विश्व-हिन्दू-धर्म-सम्मेलन के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन।

धार्मिक समस्याएं : एक अनुचिन्तन

आज के युग में जब हम धर्म के विषय में चिन्तन करते हैं, तब अमुक-अमुक धर्म के बारे मे नहीं किन्तु हमारा चिन्तन सामान्य धर्म पर टिकता है।

आज किसी भी धर्म की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है, जितनी पहले थी। यह अकारण नही है। कारणो की चर्चा बहुत लम्बी है, फिर भी इस अवसर पर सक्षेप मे मै यह कहना चाहूंगा। धर्म की स्थिति के अपकर्प के कारण ये है :

१. साम्प्रदायिक संकीर्णता।
२. परिवर्तनीय के प्रति शाश्वत दृष्टिकोण।
३. धर्म के प्रायोगिक स्वरूप का परित्याग और अवैज्ञानिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्डों का निर्वाह।
४. वैज्ञानिक शोध तथा प्रखर वुद्धिवाद।
५. आर्थिक तथा राजनीतिक विचारधारा का प्रभुत्व।

साम्प्रदायिक संकीर्णता

सम्प्रदाय का अर्थ है, गुरु-परम्परा। एक गुरु ने सत्य तक पहुंचने के [illegible] जो साधना की, जो मार्ग चुना तथा जो रहस्य प्राप्त किए, उन्हें दूसरा [illegible] सहज प्राप्त कर सके, इसलिए सम्प्रदाय बने अर्थात् गुरु और [illegible] परम्परा का विकास हुआ।

समय के प्रवाह में यह बात गौण हो गई और [illegible] है, दूसरे सब सम्प्रदाय असत्य है—यह बात मुख्य [illegible] मे धर्म क्षीण हो गया और सम्प्रदाय पुष्ट।

भारतीय या हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व हैं :

१. व्यापक सहिष्णुता।

२. समन्वय।

३. सत्य के प्रति विनम्र दृष्टिकोण।

जब तक ये तत्त्व विकसित होते रहे, तब तक हिन्दूधर्म विकासशील रहा। जैसे-जैसे साम्प्रदायिक संकीर्णता विकसित हुई, हिन्दू धर्म विघटित होने लगा।

मैं सम्प्रदायों को अनिष्ट नहीं मानता। वे विचार-विकास या सत्य-शोध के समुन्नत उपक्रम हैं। हमारी नाड़िया अनेक हैं, इसलिए वे बाधक नही है, किन्तु उनमें सामंजस्य है, समस्वरता है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए वे इष्ट हैं और देह-संचालन में सहायक हैं। हमारी पांचों अंगुलियो का उपयोग है। मैं नहीं समझता कि इनको एक बनाने में कोई बुद्धिमत्ता है ? परस्परता हो, सामंजस्य हो तो भले पांच हो या पचास, हमें कोई कठिनाई नही होती। असामंजस्यपूर्ण स्थिति में दो या अधिक का होना खतरनाक हो जाता है। धर्म-सम्प्रदायों में आज सामजस्य नहीं है, इसीलिए आज उनका उत्कर्ष कम हो गया है।

परिवर्तनीय के प्रति शाश्वत दृष्टिकोण

समाज-धर्म की धाराएं शाश्वत नहीं होती। मनु आदि महर्षियों ने अपने युगचिन्तन के अनुरूप समाज की व्यवस्था की। आज उन्हीं को चालू रखने का आग्रह हो और वह धर्म के नाम से हो तो आप निश्चित समझिए, आज के बुद्धिवादी युग में धर्म का उत्कर्ष कम हो जाएगा।

धर्म के प्रायोगिक स्वरूप का परित्याग और अवैज्ञानिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्डों का निर्वाह

विज्ञान आज प्रयोगात्मक गति से चल रहा है, इसलिए वह विकासशील है। धर्म आज रूढ़ हो गया है, और ऐसा हो गया है, मानो सत्य जो प्राप्य था, वह पा लिया, अव कुछ पाने को शेप नहीं। इस रूढ वृत्ति के कारण धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया है। हमारे पूर्वज आचार्यों ने धर्म के नये-नये

प्रयोग किए, इसीलिए उसका विस्तार हुआ। अनेक अज्ञात तथ्य ज्ञात हुए।

आज प्रायोगिक शक्ति हाथ में नहीं है। इसलिए अनेक धार्मिक उन परम्पराओं का पालन कर रहे हैं, जिनका आज कोई उपयोग नहीं है। अनेक ऐसे कर्मकाण्ड चल रहे है, जिनकी आज कोई उपयोगिता नहीं है। अनेक मनीपी लोग कहते हैं कि हिन्दू धर्म में इतने कर्मकाण्ड प्रवेश पा गए कि मनुष्य का जीवन अस्वाभाविक हो गया। आज उतने कर्मकाण्ड नहीं रहे हैं, फिर भी उनकी प्रतिक्रिया यह है कि धर्म के प्रति उत्कर्ष का भाव क्षीण है।

वैज्ञानिक शोध तथा प्रखर बुद्धिवाद

आज विज्ञान के नित नये चरण आगे वढ़ रहे है। उसे अनेक उपलब्धिया हो रही है। सारा विश्व उसकी सत्य-गवेपणा से चमत्कृत है। धर्म ने अपने आध्यात्मिक प्रयोगो द्वारा ऐसी कोई नयी उपलब्धि प्रस्तुत नही की, जिसे ससार आश्चर्य की दृष्टि से देखे। मै मानता हूं—धार्मिक जगत् सूक्ष्म या अमूर्त सत्य का उपासक है। पर स्थूल या मूर्त सत्य उसका विषय ही नहीं है, यह मानने का कोई कारण दिखाई नही देता। एक धारा की गति के समक्ष दूसरी धारा की गति मन्द हो या हो ही नही, तो उसकी प्रभावहीनता को अस्वाभाविक नही कहा जा सकता।

आर्थिक तथा राजनीतिक विचारधारा का प्रभुत्व

जीवन की समस्याओं के प्रति आज का दृष्टिकोण एकान्ततः आर्थिक और रानीतिक हो गया है। धार्मिक मनीपी विचारक वर्ग को यह अनुभव कराने मे असमर्थ रहे है कि जीवन की प्राथमिक अपेक्षा सत्य की खोज है। यदि वह हो तो रोटी-कपड़े की समस्या भी इतनी जटिल नहीं हो सकती।

मैंने जिन पाच कारणों की चर्चा की है, वे धर्म की अस्वीकृति मे निमित्त वनते हे पर इसका अर्थ यह नही है कि विज्ञान, बुद्धिवाद, आर्थिक विकास और धर्म साध-साथ नही चल सकते। यदि हमारा दृष्टिकोण समन्वय-प्रधान हो तो इनके सहावस्थान में कोई आपत्ति नही आ सकती।

नयी परिस्थिति में धार्मिक का कर्त्तव्य

१. साम्प्रदायिक संकीर्णता की स्थिति को वदलने के लिए भेदाभेदात्मक या

भारतीय या हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व हैं :

१. व्यापक सहिष्णुता।

२. समन्वय।

३. सत्य के प्रति विनम्र दृष्टिकोण।

जब तक ये तत्त्व विकसित होते रहे, तब तक हिन्दूधर्म विकासशील रहा। जैसे-जैसे साम्प्रदायिक संकीर्णता विकसित हुई, हिन्दू धर्म विघटित होने लगा।

मैं सम्प्रदायों को अनिष्ट नहीं मानता। वे विचार-विकास या सत्य-शोध के समुन्नत उपक्रम हैं। हमारी नाड़िया अनेक हैं, इसलिए वे बाधक नहीं हैं, किन्तु उनमें सामंजस्य है, समस्वरता है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए वे इष्ट हैं और देह-संचालन में सहायक है। हमारी पांचों अगुलियो का उपयोग है। मैं नहीं समझता कि इनको एक बनाने मे कोई बुद्धिमत्ता है ? परस्परता हो, सामंजस्य हो तो भले पाच हों या पचास, हमें कोई कठिनाई नहीं होती। असामंजस्यपूर्ण स्थिति में दो या अधिक का होना खतरनाक हो जाता है। धर्म-सम्प्रदायों में आज सामंजस्य नहीं है, इसीलिए आज उनका उत्कर्ष कम हो गया है।

परिवर्तनीय के प्रति शाश्वत दृष्टिकोण

समाज-धर्म की धाराएं शाश्वत नहीं होतीं। मनु आदि महर्षियों ने अपने युगचिन्तन के अनुरूप समाज की व्यवस्था की। आज उन्हीं को चालू रखने का आग्रह हो और वह धर्म के नाम से हो तो आप निश्चित समझिए, आज के बुद्धिवादी युग में धर्म का उत्कर्ष कम हो जाएगा।

धर्म के प्रायोगिक स्वरूप का परित्याग और अवैज्ञानिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्डों का निर्वाह

विज्ञान आज प्रयोगात्मक गति से चल रहा है, इसलिए वह विकासशील है। धर्म आज रूढ़ हो गया है, और ऐसा हो गया है, मानो सत्य जो प्राप्य था, वह पा लिया, अव कुछ पाने को शेप नही। इस रूढ वृत्ति के कारण धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया है। हमारे पूर्वज आचार्यो ने धर्म के नये-नये

प्रयोग किए, इसीलिए उसका विस्तार हुआ। अनेक अज्ञात तथ्य ज्ञात हुए।

आज प्रायोगिक शक्ति हाथ में नहीं है। इसलिए अनेक धार्मिक उन परम्पराओं का पालन कर रहे है, जिनका आज कोई उपयोग नहीं है। अनेक ऐसे कर्मकाण्ड चल रहे हैं, जिनकी आज कोई उपयोगिता नहीं है। अनेक मनीषी लोग कहते है कि हिन्दू धर्म में इतने कर्मकाण्ड प्रवेश पा गए कि मनुष्य का जीवन अस्वाभाविक हो गया। आज उतने कर्मकाण्ड नहीं रहे हैं, फिर भी उनकी प्रतिक्रिया यह है कि धर्म के प्रति उत्कर्ष का भाव क्षीण है।

वैज्ञानिक शोध तथा प्रखर बुद्धिवाद

आज विज्ञान के नित नये चरण आगे बढ़ रहे है। उसे अनेक उपलब्धियां हो रही हैं। सारा विश्व उसकी सत्य-गवेषणा से चमत्कृत है। धर्म ने अपने आध्यात्मिक प्रयोगो द्वारा ऐसी कोई नयी उपलब्धि प्रस्तुत नही की, जिसे संसार आश्चर्य की दृष्टि से देखे। मै मानता हूं—धार्मिक जगत् सूक्ष्म या अमूर्त सत्य का उपासक है। पर स्थूल या मूर्त सत्य उसका विषय ही नहीं है, यह मानने का कोई कारण दिखाई नही देता। एक धारा की गति के समक्ष दूसरी धारा की गति मन्द हो या हो ही नही, तो उसकी प्रभावहीनता को अस्वाभाविक नही कहा जा सकता।

आर्थिक तथा राजनीतिक विचारधारा का प्रभुत्व

जीवन की समस्याओ के प्रति आज का दृष्टिकोण एकान्ततः आर्थिक और रानीतिक हो गया है। धार्मिक मनीषी विचारक वर्ग को यह अनुभव कराने में असमर्थ रहे हैं कि जीवन की प्राथमिक अपेक्षा सत्य की खोज है। यदि वह हो तो रोटी-कपड़े की समस्या भी इतनी जटिल नहीं हो सकती।

मैंने जिन पांच कारणो की चर्चा की है, वे धर्म की अस्वीकृति में निमित्त बनते है पर इसका अर्थ यह नही है कि विज्ञान, बुद्धिवाद, आर्थिक विकास और धर्म साथ-साथ नहीं चल सकते। यदि हमारा दृष्टिकोण समन्वय-प्रधान हो तो इनके सहावस्थान में कोई आपत्ति नही आ सकती।

नयी परिस्थिति में धार्मिक का कर्त्तव्य

१ साम्प्रदायिक संकीर्णता की स्थिति को वदलने के लिए भेदाभेदात्मक या

भारतीय या हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व हैं :

१. व्यापक सहिष्णुता।

२. समन्वय।

३. सत्य के प्रति विनम्र दृष्टिकोण।

जब तक ये तत्त्व विकसित होते रहे, तब तक हिन्दूधर्म विकासशील रहा। जैसे-जैसे साम्प्रदायिक संकीर्णता विकसित हुई, हिन्दू धर्म विघटित होने लगा।

मैं सम्प्रदायों को अनिष्ट नही मानता। वे विचार-विकास या सत्य-शोध के समुन्नत उपक्रम हैं। हमारी नाड़िया अनेक है, इसलिए वे बाधक नही हैं, किन्तु उनमें सामंजस्य है, समस्वरता है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए वे इष्ट हैं और देह-सचालन में सहायक हैं। हमारी पांचों अंगुलियों का उपयोग है। मैं नहीं समझता कि इनको एक बनाने में कोई बुद्धिमत्ता है ? परस्परता हो, सामंजस्य हो तो भले पांच हों या पचास, हमें कोई कठिनाई नहीं होती। असामंजस्यपूर्ण स्थिति में दो या अधिक का होना खतरनाक हो जाता है। धर्म-सम्प्रदायों मे आज सामंजस्य नहीं है, इसीलिए आज उनका उत्कर्ष कम हो गया है।

परिवर्तनीय के प्रति शाश्वत दृष्टिकोण

समाज-धर्म की धाराएं शाश्वत नहीं होती। मनु आदि महर्षियों ने अपने युगचिन्तन के अनुरूप समाज की व्यवस्था की। आज उन्हीं को चालू रखने का आग्रह हो और वह धर्म के नाम से हो तो आप निश्चित समझिए, आज के बुद्धिवादी युग में धर्म का उत्कर्ष कम हो जाएगा।

धर्म के प्रायोगिक स्वरूप का परित्याग और अवैज्ञानिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्डों का निर्वाह

विज्ञान आज प्रयोगात्मक गति से चल रहा है, इसलिए वह विकासशील है। धर्म आज रूढ़ हो गया है, और ऐसा हो गया है, मानो सत्य जो प्राप्य था, वह पा लिया, अव कुछ पाने को शेष नहीं। इस रूढ़ वृत्ति के कारर्ण धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया है। हमारे पूर्वज आचार्यो ने धर्म के नये-नये

प्रयोग किए, इसीलिए उसका विस्तार हुआ। अनेक अज्ञात तथ्य ज्ञात हुए।

आज प्रायोगिक शक्ति हाथ में नहीं है। इसलिए अनेक धार्मिक उन परम्पराओ का पालन कर रहे हैं, जिनका आज कोई उपयोग नही है। अनेक ऐसे कर्मकाण्ड चल रहे हैं, जिनकी आज कोई उपयोगिता नहीं है। अनेक मनीषी लोग कहते हैं कि हिन्दू धर्म में इतने कर्मकाण्ड प्रवेश पा गए कि मनुष्य का जीवन अस्वाभाविक हो गया। आज उतने कर्मकाण्ड नहीं रहे हैं, फिर भी उनकी प्रतिक्रिया यह है कि धर्म के प्रति उत्कर्ष का भाव क्षीण है।

वैज्ञानिक शोध तथा प्रखर बुद्धिवाद

आज विज्ञान के नित नये चरण आगे बढ़ रहे है। उसे अनेक उपलव्धियां हो रही हैं। सारा विश्व उसकी सत्य-गवेषणा से चमत्कृत है। धर्म ने अपने आध्यात्मिक प्रयोगों द्वारा ऐसी कोई नयी उपलब्धि प्रस्तुत नही की, जिसे संसार आश्चर्य की दृष्टि से देखे। मै मानता हूं—धार्मिक जगत् सूक्ष्म या अमूर्त सत्य का उपासक है। पर स्थूल या मूर्त सत्य उसका विषय ही नही है, यह मानने का कोई कारण दिखाई नही देता। एक धारा की गति के समक्ष दूसरी धारा की गति मन्द हो या हो ही नहीं, तो उसकी प्रभावहीनता को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

आर्थिक तथा राजनीतिक विचारधारा का प्रभुत्व

जीवन की समस्याओ के प्रति आज का दृष्टिकोण एकान्ततः आर्थिक और रानीतिक हो गया है। धार्मिक मनीषी विचारक वर्ग को यह अनुभव कराने में असमर्थ रहे हैं कि जीवन की प्राथमिक अपेक्षा सत्य की खोज है। यदि वह हो तो रोटी-कपडे की समस्या भी इतनी जटिल नहीं हो सकती।

मैने जिन पांच कारणों की चर्चा की है, वे धर्म की अस्वीकृति में निमित्त वनते है पर इसका अर्थ यह नही है कि विज्ञान, बुद्धिवाद, आर्थिक विकास और धर्म साथ-साथ नही चल सकते। यदि हमारा दृष्टिकोण समन्वय-प्रधान हो तो इनके सहावस्थान में कोई आपत्ति नही आ सकती।

नयी परिस्थिति में धार्मिक का कर्त्तव्य

१. साम्प्रदायिक संकीर्णता की स्थिति को वदलने के लिए भेदाभेदात्मक या

एकानेकात्मक दृष्टिकोण का विकास आवश्यक है। सब धर्म सत्य की दृष्टि से अभिन्न या एक हैं, पहुंच या सत्य की उपलब्धि के तारतम्य की दृष्टि से भिन्न या अनेक है। ऐसा होने पर हममें एक-दूसरे से ग्रहण करने की भावना जागृत होगी और एक-दूसरे को हीन बताने की भावना समाप्त हो जाएगी।

२. परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय नियमों का पुनश्चिन्तन और निर्धारण।

३. आध्यात्मिक प्रयोगों का विकास और नयी-नयी अभ्यास-प्रक्रियाओं का अनुसन्धान तथा आविष्कार।

४. विज्ञान की अनेक शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन।

५. धर्म की आवश्यकता का वैज्ञानिक पद्धति से प्रतिपादन।

यदि इस क्रम का अनुसरण होता है तो आप मुझे कहने दीजिए कि धर्म आज भी इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि उसकी कोई अवहेलना कर ही नहीं सकता।

मनुष्य-जीवन के दो पक्ष हैं—व्यावहारिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिकता में विश्वास होने का अर्थ है, व्यवहार का नैतिक होना। यदि व्यवहार में अध्यात्म का प्रतिबिम्ब न हो, धार्मिक व्यक्ति का जीवन नैतिकता से ओत-प्रोत न हो तो समझना चाहिए कि वह बुद्धि से प्रताडित है। उसमें धर्म की प्रगाढ़ श्रद्धा का उदय नही हुआ है।

मैंने अनुभव किया कि आज भारतीय धर्म का उपासना-पक्ष जितना प्रबल है, उतना आचार-पक्ष प्रवल नही है। मैंने इसका यही अर्थ समझा कि लोग जितने पारलौकिक सुख के लिए उत्सुक है, उतने वर्तमान जीवन के आनन्द के लिए नही है। इसी स्थिति को लेकर अनेक विदेशी विचारक यह आरोप लगाते है कि भारतीय जीवन-व्यवहार की ऊंचाई उतनी नहीं है, जितनी भारतीय चिन्तन की है। मैंने इस स्थिति को ध्यान में रखकर अणुव्रत-आन्दोलन का संचालन किया। उसकी पृष्ठभूमि सर्व-धर्म-समन्वयात्मक है। उसकी आत्मा आध्यात्मिक है। उसका आचार नैतिक है। मानवीय विभाजन की रेखाओं को क्षीण करने मे इस आन्दोलन ने अपने ढग से प्रयत्न किया है। भारतीय धर्मो का यह नवनीत सव धार्मिक

मनीषियों का आदर प्राप्त करे और सिद्धान्त एवं व्यवहार की ऊंचाई में समानता हो, यह मेरी हार्दिक भावना है। धार्मिक एकता तथा मैत्री के लिए मैं धर्माचार्यो के मिलन को बहुत महत्त्व देता हूं। मुझे विश्वास है कि हम लोग इस प्रकार एकत्र होकर धर्म के आवरण का संशोधन तथा नवीनीकरण करने मे अधिक सफल हो सकेंगे।

सर्व-धर्म-समभाव और स्याद्वाद

धर्म एक ही है, इसलिए सर्व-धर्म ऐसा प्रयोग सही नही है। जब धर्म अनेक नहीं तब समभाव किन पर हो ? निश्चय-दृष्टि से यह धारणा उचित है। व्यवहार की धारणा इससे भिन्न है। जब हम धर्म और सम्प्रदाय को एक ही शब्द से अभिहित करते हैं, तब धर्म अनेक हो जाते हैं और उन सब पर समभाव रखने का प्रश्न भी उपस्थित होता है, पर प्रतिप्रश्न यह है कि जो धर्म सम नही है उन पर समभाव कैसे रखा जाए ? कोई धर्म अहिसा का समर्थन करता है और कोई नही करता। क्या उन दोनों को समदृष्टि से देखा जाए ? यह कैसे हो सकता है ? प्रकाश और अन्धकार को सम नहीं माना जा सकता। जो विषम हैं, उन्हें सम मानना मिथ्या दृष्टिकोण है।

किन्तु स्याद्वाद के सन्दर्भ में समभाव का अर्थ होगा अपने भावो का समीकरण। जिसका दृष्टिकोण अनेकान्त-स्पर्शी होता है वही व्यक्ति प्रत्येक धर्म के सत्यांश को स्वीकार और असत्यांश का परिहार करने मे सम (तटस्थ) रह सकता है।

धर्म के विचार अनेक है। कोई कालवादी है, कोई स्वभाववादी। कोई ईश्वरवादी, कोई यदृच्छावादी। कोई नियतिवादी है, कोई पुरुषार्थवादी। कोई कर्मवादी है, कोई परिस्थितिवादी। कोई प्रवृत्तिवादी है, कोई निवृत्तिवादी।

श्वेताश्वतर उपनिपद् मे उल्लेख है—'काल, स्वभाव, नियति यदृच्छा, भूत और पुरुप—ये अलग-अलग विश्व के कारण नही है और इनका संयोग भी आत्मा के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नहीं है। आत्मा सुख-दु.ख के हेतुओ के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नही

हो सकता।'

ब्रह्मवादी विचारधारा प्रवृत्त हुई तब उनके सामने ये अभिमत प्रचलित थे। महाभारत में हमें काल, स्वभाव आदि का समर्थन करने वाले असुरों के सिद्धान्त मिलते हैं। प्रह्लाद स्वभाववादी थे। इन्द्र ने उनसे पूछा—आप राज्य-भ्रष्ट होकर भी शोक-मुक्त कैसे हैं ?

प्रह्लाद ने कहा—मेरी यह निश्चित धारणा है कि सब कुछ स्वभाव से प्राप्त होता है। मेरी आत्मनिष्ठ बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नही रखती।

इसी प्रकार इन्द्र के प्रश्न पर असुरराज बलि ने काल के कर्त्तृत्व का समर्थन किया। नमुचि ने नियतिवाद के समर्थन में कहा—"पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने वाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिसकी जैसी भवितव्यता होती है, वह वैसा ही होता है।"

स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार काल स्वभाव आदि कार्य की निष्पत्ति मे कारण है, पर ये वियुक्त होकर किसी कार्य को निष्पन्न नहीं करते। इनका समुचित योग होने पर ही कार्य निष्पन्न होता है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे—"काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ—ये पांचों कारण परस्पर निरपेक्ष होकर अयथार्थ बन जाते है और ये ही परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ बन जाते है।"

वस्तुस्थित्या कर्त्तृत्व स्वयं पदार्थ मे होता है। प्रत्येक [illegible] स्वयं-संचालित होता है। काल आदि उसके संचालन [illegible] है। पदार्थ और उसकी कारण-सामग्री से अतिरिक्त [illegible] का आरोप करने की कोई अपेक्षा नही। [illegible] कर्त्तृत्व की स्थापना करते हैं। हरिभद्र सूरि ने [illegible] कहा है—"कर्ता वही होता है जो परम [illegible] है। वह अपने स्वभाव-कार्य का कर्ता है। [illegible] मान्य भी है।"

उसका फलित है।

यदि सब पदार्थ या एक पदार्थ के अनेक धर्म अविरोधी ही होते तो पदार्थ एक ही होता और एक पदार्थ भी एक धर्म से युक्त होता, किन्तु ऐसा नहीं है और इसीलिए नही है कि अनेक विरोधी पदार्थ हैं और हर पदार्थ में अनेक विरोधी धर्म हैं। जिनकी दृष्टि विषम होती है, वे ऐसा मानते हैं कि विरोधी वस्तुओ या धर्मो का सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता। किन्तु समदृष्टि वाले ऐसा मानते हैं कि सह-अस्तित्व उन्हीं का होता है जो विरोधी अंशों में पृथक् अस्तित्व रखते हैं। यह वस्तु-जगत् के प्रति स्याद्वाद का सह-अस्तित्व सिद्धान्त है।

धार्मिक जगत् के प्रति भी स्याद्वाद का फलित यही है। यह देखकर कष्ट होता है कि कुछ जैन विद्वान् स्याद्वाद का पूरा निर्वाह नही कर सके। वाद-विवाद के क्षेत्र मे वैसे उतरे, जैसे एकान्तवादी दार्शनिक उतरे थे। समदृष्टि उतनी नहीं रही जितनी स्याद्वाद की पृष्ठभूमि मे रहनी चाहिए। इसीलिए उसका फलित सह-अस्तित्व उतना विकसित नहीं हो सका, जितना होना चाहिए।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो एक ही महावृक्ष की महान् शाखाए है। उनके सिद्धान्त-निरूपण में भी कोई मौलिक अन्तर नही है। फिर भी दोनो शाखाओ के विद्वानो ने मतभेद की समीक्षा मे ऐसे शब्द प्रयोग किए हैं, जो वांछनीय नहीं थे। लगता है कि स्याद्वाद की मर्यादा अब विकसित हो रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर धारा की दूरी मिट रही है; सह-अस्तित्व निष्पन्न हो रहा है।

स्याद्वाद एक समुद्र है। उसमें सारे वाद विलीन होते हैं। जितने वचन-पथ हैं। उतने ही नयवाद है, और जितने नयवाद हैं उतने दी दर्शन हैं।

धर्म या दर्शन की तालिका वहुत लम्वी है। उनके विचारों का भेद भी बहुत तीव्र है। उनका समन्वय करना कोई सरल काम नही है। पर स्याद्वाद का मूल समन्वय की गहराई में नहीं है। उसका मूल साधना की गहराई में है। वह वहां तक पहुंचती है जहां सत्य ही आधार है। प्रोफेसर कीथ का मन्तव्य है—'दर्शन के प्रति जैनियों की देन, जहां तक वह मौलिक थी, इस प्रयत्न के रूप में है कि जो स्थिर वस्तु है और जो अस्थिर है उन दोनो के

विरोध का समाधान कैसे किया जाए? उनका समाधान इस रूप में है कि एक स्थिर सत्ता के रहते हुए भी वह बराबर परिवर्तनशील है। यही सिद्धान्त न्याय में प्रसिद्ध स्याद्वाद का रूप धारण कर लेता है। इस वाद को मूलतः इस रूप मे कह सकते है कि एक अर्थ में किसी बात को कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अर्थ में उसी का निषेध भी किया जा सकता है परन्तु जैन-दर्शन का कोई गम्भीर विकास नही हो सका। क्योंकि यह आवश्यक समझा गया कि जैन-दर्शन जिस रूप मे परम्परा से प्राप्त था, उसको वैसा ही मान लेना चाहिए और इस अवस्था मे उसे बौद्धिक आधार पर खड़ा नही किया जा सकता।'

प्रो॰ कीथ का निष्कर्ष पूर्णत· यथार्थ नही है तो पूर्णतः अयथार्थ भी नही है। जैन विद्वान् परम्परा-सेवी रहे है। परन्तु जैन-दर्शन का गम्भीर विकास नहीं हुआ, यह सही नही है। इसमे कोई सदेह नहीं कि जैन परम्परा में तर्कशास्त्र का उतना विकास नहीं हुआ जितना नैयायिक और बौद्ध धारा में हुआ। इसका कारण यही मान्यता थी कि सत्य की उपलब्धि तर्क के द्वारा नहीं, किन्तु साधना के द्वारा होती है।

स्याद्वाद एक तर्क-व्यूह के रूप में गृहीत नही हुआ, किन्तु सत्य के एक द्वार के रूप में गृहीत हुआ।

केवल स्याद्वाद को जानने वाला सब धर्मो पर समभाव नहीं रख सकता किन्तु जो अहिसा की साधना कर चुका, वही सब धर्मो पर समभाव रख सकता है। स्याद्वाद अहिंसा का ही एक प्रकार है। जो अहिंसक न हो और स्याद्वादी हो, यह उतना ही असम्भव है कि कोई व्यक्ति हिसक हो और शुष्क तर्कवादी न हो।

कौटिल्य ने तर्क-विद्या को सब धर्मो का आधार कहा है। इसके विपरीत भर्तृहरि का मत है—कुशल अनुमाता के द्वारा अनुमति अर्थ भी दूसरे प्रवर तार्किक द्वारा उलट दिया जाता है। इसी आशय के सन्दर्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा था—'कोरे ज्ञान से निर्वाण नही होता, यदि श्रद्धा न हो। कोरी श्रद्धा से भी वह प्राप्त नहीं होता, यदि सयम न हो।'

जैन विद्वानो ने संयम और श्रद्धा से समन्वित ज्ञान का विकास किया इसलिए उनका तर्कशास्त्र स्याद्वाद की परिधिं से बाहर विकसित नहीं हो सकता था।

तर्क से विचिकित्सा का अन्त नहीं होता। वही तर्क जब स्याद्वाद-स्पर्शी होता है, तो विचिकित्सा समाप्त हो जाती है। तर्कशास्त्र के सारे अंगों का जैन आचार्यो ने स्पर्श किया और हर दृष्टि के कोण को उन्होंने मान्यता दी। उनके सामने असत्य कुछ भी नहीं था। असत्य था केवल एकान्तवाद और मिथ्या-आग्रह। आग्रह न हो तो चार्वाक का दृष्टिकोण भी असत्य नही है, वह इन्द्रियगम्य सत्य है। वेदान्त का दृष्टिकोण भी असत्य कैसे है ? वह अतीन्द्रिय सत्य है। इन्द्रिय और अतीन्द्रिय दोनों का समन्वय पूर्ण-सत्य है।

समन्वय या समभाव की दिशा में हरिभद्र सूरि का दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है। उन्होंने लिखा है—जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध है जैन दृष्टि से घटित होता है, अमूर्त आकाश के साथ घट का सम्बन्ध होता है, अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मदिरा का उपघात होता है, वैसे ही सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है। कपिल मुनि दिव्यज्ञानी थे। वे भला असत्य कैसे कहते ।

महात्मा बुद्ध ने क्षणिकवाद का उपदेश आसक्ति मिटाने के लिए, विज्ञानवाद का उपदेश बाह्य पदार्थो से विमुक्त रखने के लिए दिया। वे भला बिना प्रयोजन के ऐसी बात कैसे कहते !

अद्वैत की देशना समभाव की सिद्धि के लिए की गई। इस प्रकार विरोधी प्रतिभासित होने वाली दृष्टियों में अविरोध ढूंढना और उनके प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव प्रकट करना एक समदर्शी स्याद्वादी महातार्किक का ही काम है।

आज जैन-मनीषियो के लिए यह सद्यःप्राप्त कार्य है कि वे समभाव की साधना से समन्वित स्याद्वाद का प्रयोग कर जीवन के हर क्षेत्र में उठने वाले विवादों और संघर्षो का शमन करें।

एशिया में जनतन्त्र का भविष्य

मनुष्य-समाज मे सामाजिक विकास के साथ-साथ शासन का विकास हुआ है। समय की लम्बी अवधि मे अनेक शासन-प्रणालिया आयी और चली गयी। वर्तमान शासन-प्रणालियो के मुख्यतः दो प्रकार है—अधिनायकवाद और लोकतन्त्र। एशिया महाद्वीप मे दोनों प्रकार की प्रणालियां है। एशिया के दो सबसे वडे राष्ट्र है—चीन और हिन्दुस्तान। चीन अधिनायकतावादी प्रणाली से शासित है और हिन्दुस्तान लोकतन्त्री प्रणाली से।

चीन साम्यवादी है और हिन्दुस्तान समाजवादी लोकतन्त्री। राजनीतिक और आर्थिक—दोनो दृष्टियो से दोनों मे मौलिक अन्तर है।

राजनीतिक दृष्टि से

साम्यवादी शासन का मौलिक आधार सामाजिक सुव्यवस्था है। उसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का स्थान गौण है। लोकतन्त्रीय शासन का मौलिक आधार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक सुव्यवस्था का सामंजस्य है।

आर्थिक दृष्टि से

साम्यवादी शासन मे सम्पदा राष्ट्रीय स्व है। लोकतन्त्रीय शासन में राष्ट्रीय सम्पदा के साथ-साथ निजी सम्पदा भी मान्यता-प्राप्त है। किसी भी वस्तु का भविष्य उसकी सफलता पर निर्भर है। अधिक सफल का भविष्य अधिक उज्ज्वल, सफल का भविष्य उज्ज्वल और असफल का भविष्य अन्धकारमय होता है।

शासन-प्रणाली की सफलता निम्न तथ्यों पर निर्भर है :

१. जनता की अनिवार्य आवश्यकताओं (रोटी, कपडा, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा और सुरक्षा) की पर्याप्त पूर्ति।
२. विकास के समान अवसर।
३. विचार-स्वातन्त्र्य।
४. शुद्ध साधनों की प्राथमिकता।

जनतन्त्र की प्रणाली अल्पकालीन परिस्थिति मे सफल प्रतीत होती है, किन्तु दीर्घकालीन सफलता उसे अधिक प्राप्त होती है। जिस प्रणाली मे व्यक्तिगत स्वत्व का नियमित आकर्षण नहीं होता, वह चिरकाल तक अधिक सफल नहीं हो सकती। जनतन्त्रीय प्रणाली की सफलता का यह एक बहुत बड़ा हेतु है। किन्तु आज जिस प्रकार एशिया शस्त्र-सज्जित होने की धुन में है वह जनतन्त्र को भारी खतरा है। सैनिक शक्ति का विकास और अधिनायकता का विकास बहुत दूर होते हुए भी कभी-कभी बहुत निकट आ जाते हैं और एक भी बन जाते हैं।

इस खतरे की ओर अभी से ध्यान नहीं दिया गया, जनतन्त्र की उपयोगिता से जन-मानस को प्रभावित नहीं किया गया तो जनतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

आज समूचे संसार में सैन्य-शक्ति के सवर्धन की होड़-सी लग रही है। संसार की जैसी मनोदशा है, उसे देखते हुए सैन्य-शक्ति से असज्जित रहना भी सम्भव नही है। दुनिया का एक भी शक्तिशाली देश जब तक युद्ध में विश्वास करता है, उसे अनिवार्य मानता है, तब तक दूसरे देश सैन्य-शक्ति और अस्त्र-वल के संवर्धन की उपयोगिता मे सन्देह नही कर सकते।

आवश्यकता-पूर्ति, स्वतन्त्रता और साधन-शुद्धि का विचार—ये सब शान्तिकाल मे जितने सुलभ होते है उतने युद्धकाल में नहीं होते। जब जीवन की समस्याएं जटिल होती हैं, तव स्वतन्त्रता और साधन-शुद्धि का विचार क्षीण हो जाता है और अधिनायकता शक्तिशाली वन जाती है।

जनतन्त्र के दीर्घकालीन विकास के लिए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है। एशिया मे यह अपेक्षा आज एक विकट पहेली वनी हुई है। कुछ राष्ट्रो का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व मे विश्वास नही है। उनका यह विश्वास जनतन्त्र के भविष्य को चुनौती है। उस चुनौती का सामना

करने के लिए जनतन्त्रीय राष्ट्र सैन्य और शस्त्र-बल से सज्जित होना आवश्यक मानते है। फलतः युद्ध, कठिनाइयां और अधिनायकता—यह क्रम आता है।

इन परिस्थितियों के व्यूह मे यह कहना बहुत कठिन है कि एशिया में जनतन्त्र का भविष्य है या नहीं? किन्तु समूची दुनिया में जनतन्त्र का भविष्य सुरक्षित है तव एशिया में उसका भविष्य नही है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

भारत दुनिया का सवसे बडा जनतन्त्र देश है। उसका भविष्य जनतन्त्र का भविष्य है। जनतन्त्र को अधिनायकवाद से ही ख़तरा नही है, उसे जनता से भी ख़तरा है, जो जनतन्त्रीय प्रणाली का जीवन जीती हुई भी जनतन्त्र का मूल्य नहीं समझती। अमेरिका, ब्रिटेन आदि में जनतन्त्र की परम्परा दीर्घकालीन है। एशियायी देशों मे वह अभी आकार ले रही है। उसका आकार सुखद नही है, काली छाया से मुक्त भी नही है। उससे बचने के लिए कुछ उपायो का अवलम्बन मै आवश्यक समझता हू। वे ये हैं :

१. स्वतन्त्रता का विकास।
२. मानवीय एकता का समर्थन।
३ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।
४. शोषण-मुक्त और स्वतन्त्र समाज की रचना।
५. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना।
६. सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण के सामूहिक प्रयत्नों का समर्थन।
७. मैत्री तथा शान्ति-संगठनो की सार्वदेशिक एकसूत्रता।

जनतन्त्र में आस्था रखने वाले व्यक्ति, सगठन तथा राष्ट्र इस दिशा में स्वय सक्रिय होंगे। आणविक अस्त्रो की विभीषिका स्वयं मानव-समाज को जनतन्त्र की ओर प्रेरित करेगी। अन्तिम शिखर पर पहुची हुई हिंसा मनुष्य को अहिंसा की ओर ले जाती है। यही प्रतिबिम्ब मैं यहां देखता हू कि अधिनायकवाद का भी अगला कदम जनतन्त्र है।

लोकतंत्र और चुनाव

चुनाव जनतन्त्र का प्राण है। प्राण स्वस्थ, जीवन स्वस्थ। प्राण अस्वस्थ, जीवन अस्वस्थ। कोई भी समझदार मनुष्य प्राणशक्ति की स्वस्थता और शुद्धता की उपेक्षा नहीं कर सकता और जो उपेक्षा करता है, वह समझदार नही हो सकता। चुनाव की स्वस्थता और शुद्धता की उपेक्षा करना भी समझदारी नहीं होगी।

कुछ ही महीनो बाद चुनाव आ रहे हैं। हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। यहां तीन बडे चुनाव हो चुके हैं। चौथे की प्रारम्भिक तैयारिया हो रही हैं। यह अवसर उपस्थित है, हम चुनाव के बारे में कुछ चिन्तन करें।

मैं चुनाव की पद्धति के बारे में कोई मीमांसा नहीं कर रहा हूं। मै मीमांसा कर रहा हू, चुनाव की प्रक्रिया के वारे में। चुनाव का लक्ष्य है विधायिकाओं तथा लोकसभा में ऐसे लोगो का प्रवेश जो राष्ट्र के संविधान की सुरक्षा कर सकें।

हिन्दुस्तान का संविधान राष्ट्रीयता पर आधृत है। उसमें जाति तथा सम्प्रदाय को कही कोई अवकाश नही है। विधान-सभाओं तथा लोकसभा के सदस्य इस संविधान की सुरक्षा के लिए चुनाव जीतकर आते हैं और जिस आधार पर चुनाव जीतते हैं, इन दोनो स्थितियो में अपेक्षित सामंजस्य नहीं है। चुनाव के समय जातीयता और साम्प्रदायिकता को अधिक पोपण मिलता है और उन लोगों के द्वारा मिलता है, जो सामान्य स्थिति में उनका विरोध करते हैं।

हर राजनीतिक दल के सामने अपनी जीत का प्रश्न मुख्य होता है।

यह अस्वाभाविक भी नही है। किन्तु जीत का प्रश्न साधनों की चिन्ता को मूर्च्छित ही कर दे, यह स्वाभाविक नही है। राजतंत्र मे शासन-शुद्धि की चिन्ता मुख्य नहीं होती। लोकतत्र का आधार ही साधन-शुद्धि की चिन्ता है। साधन-शुद्धि की समाप्ति दूसरे शब्दों में लोकतंत्र की समाप्ति है। 'येन-केन-प्रकारेण' के प्रयोग में लोकमत का सम्मान नहीं होता। जहां लोकमत का सम्मान नहीं, वह कैसा लोकतंत्र ?

विशुद्ध राजनीतिक सिद्धान्तों तथा कार्यक्रमों के आधार पर लोकमत प्राप्त करना चुनाव की स्वस्थ प्रक्रिया है। जातीय तथा साम्प्रदायिक दबाव और शक्तिप्रयोग, प्रलोभन आदि उपायो से लोकमत प्राप्त करना चुनाव की अस्वस्थ प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से चुनाव लड़कर जो लोग जीतते है, वे अमुक-अमुक जाति, सम्प्रदाय और अर्थदाता के प्रभाव-क्षेत्र में रहकर काम करते है। वे अपनी स्वतत्र इच्छा से काम करने की क्षमता से वचित हो जाते हैं।

अशुद्ध साधनो से चुनाव लड़कर आने वाले लोग अभी उसी शक्ति-सूत्र—जिसकी लाठी उसकी भैंस—में विश्वास करते है। सही अर्थ में लोकतंत्र में उनकी आस्था नही होती।

हिन्दुस्तान दीर्घकाल तक पराधीन रहा है। जातीय, साम्प्रदायिक तथा आर्थिक दृष्टि से अव भी वह पराधीन है। अशिक्षित मतदाताओं की सख्या प्रचुर है। इस स्थिति के सन्दर्भ में प्रबुद्ध उम्मीदवारों के पवित्र कर्तव्य का विश्लेषण करना अप्रासगिक नहीं होगा। चुनाव के अवसर पर जनता को ऐसा मुक्त अवसर दिया जाए कि वह जातीय, साम्प्रदायिक तथा प्रलोभन की संकीर्ण सीमा से उन्मुक्त होकर राष्ट्रीय हित में अपने मत का प्रयोग कर सके। वह प्रबुद्ध उम्मीदवारों की कर्तव्य-पवित्रता है। जो ऐसा नही करते, वे अपने पवित्र कार्य से च्युत हो जाते हैं।

हिन्दुस्तानी जनता अभी तीन मुख्य रोगों से संत्रस्त है—अज्ञान, अभाव और मूढता। अनेक मतदाताओ को अपने हिताहित का ज्ञान नही है। इसलिए वे हितसाधक व्यक्ति या दल का चुनाव कर नहीं पाते। अनेक मतदाता अभाव से पीडित है। वे अपने मत को पांच-दस रुपये में वेच डालते हैं। अनेक मतदाता मोह-मुग्ध हैं। वे अज्ञानी भी नहीं हैं, अभाव से पीडित भी नही हैं, किन्तु मोह से ग्रस्त हैं। इसलिए उनका मत शराब की

बोतलों के पीछे लुढ़क जाता है।

अभाव और मोह को उत्तेजना देकर लोकमत प्राप्त करना चुनाव की पवित्रता का लोप है। अज्ञान का लाभ उठाना भी पूर्ण पवित्रता नहीं है। पर वह अनिवार्यता है। इस बीमारी का इलाज कुछ लम्बे समय के बाद ही सम्भव है।

जो लोग विधान मण्डलों मे पहुंचने के लिए जनता की गरीबी और बुरी आदतों का लाभ उठाते है, वे क्या वहां पहुचकर उन स्थितियों का लाभ नहीं उठाएंगे ? फिर उनका ध्यान गरीबी और बुरी आदतों को मिटाने का नहीं होता, किन्तु उनसे लाभ उठाने में अटक जाता है। इस व्यूह मे मतदाताओं और मत-आदाताओं दोनो का भला नहीं होता।

मद्य-निषेध नहीं हो रहा है, मिलावट चल रही है और भी अनेक दुर्बलताएं जी रही हैं। क्या उनके पीछे चुनावकालीन दुर्बलता का योग नही है ? भाषायी, जातीय, साम्प्रदायिक तथा प्रान्तीय भावना पनपती जा रही है। क्या इसके पीछे भी चुनावकालीन दुर्बलता का योग नहीं है ?

चुनाव के प्रश्न पर मतदाताओ को मत-आदाताओं की अपेक्षा अधिक विचार करना चाहिए। उन लोगो को और अधिक विचार करना चाहिए, जिन्हें यह स्पष्ट दीख रहा है कि मतदान की गलत प्रक्रिया केवल सामयिक वुराई नही है किन्तु दीर्घकालीन बुराई का मूल आधार है।

अणुव्रत को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं कि कौन किसे मत देता है और कौन कहां से मत लेता है ! उसकी चिन्ता यह है कि मत देने-लेने की प्रक्रिया वुराई को आधार देने की प्रक्रिया न वने। इसीलिए उसे इस दिशा में कुछ कार्य करना आवश्यक है।

कार्य का पहला चरण है—चुनाव की स्वस्थ प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण। दूसरा चरण है—मतदाताओ से सम्पर्क करना और उन्हे चुनाव के वास्तविक परिणामों का ज्ञान कराना। तीसरा चरण है—मत-आदाताओ से सम्पर्क करना और चुनावकालीन कर्तव्य-पवित्रता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना। चौथा चरण है—विभिन्न दलों के मत-आदाता एक ही मंच से अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करें, उसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयत्न न करें—ऐसे प्रयोग करना।

इस प्रायोगिक प्रक्रिया से जो चुनाव होगा, वह जनमत की इच्छा का

सम्मान होगा। उसमें दबाव का कोई अवकाश नहीं होगा।

अणुव्रत कार्यकर्ता प्रामाणिकता, नैतिकता या चरित्र का विकास चाहते है। वह विकास आकाश मे नहीं, धरती पर होता है। धरती पर रहने वाले उन लोगो में होता है, जो धन और सत्ता की परिक्रमा किए चल रहे हैं। इसलिए धन और सत्ता के सन्दर्भ को छोडकर अन्यत्र कही उसके विकास की बात नहीं सोचनी चाहिए। चुनाव सत्ता का प्राण-केन्द्र है। इससे सामाजिक जीवन का हर स्पन्दन प्रभावित होता है। इसकी शुद्धि हर श्वास मे शुद्धि लाती है और इसकी विकृति हर श्वास में विकार लाती है। इसलिए इस कार्य मे भी सभी कार्यकर्ताओं का ध्यान सचाई एवं शालीनता के साथ केन्द्रित हो, यह मैं हृदय से चाहता हूं।

लोकतंत्र के आधार-स्तम्भ

आदान और दान सामाजिक जीवन की अमोघ परम्परा है। आदाता और दाता, दोनों के लिए देय वस्तु बहुमूल्य होती है। दाता के लिए देय वस्तु का मूल्य इसलिए है कि वह अपनी वस्तु का विसर्जन करता है। आदाता के लिए उसका मूल्य इसलिए है कि दूसरे के स्व को आत्मीय स्व बनाता है। अन्य देय वस्तुओं की तुलना में मतदान का मूल्य सर्वोपरि है। यदि आज पौराणिक युग होता तो मतदान का फल सर्वोच्च स्वर्ग माना जाता। भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान, अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान आदि-आदि दान पुराने युग में प्रचलित थे। किन्तु मतदान जैसा शब्द उस युग में प्रचलित नहीं था। यह लोकतंत्र की देन है।

लोकतंत्र की आधार-भित्ति मतदान है। मतदान जितना स्वस्थ होता है, लोकतंत्र उतना ही स्वस्थ होता है। मतदान की स्वस्थता जनता के चारित्रिक बल पर आधृत है।

चरित्र-बल से क्षीण व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता। लोकतंत्र की आत्मा है स्वतन्त्रता। उसे परतन्त्र व्यक्ति पल्लवित नही कर सकता। स्वतन्त्रता का वीज स्वतन्त्रता के रक्त से ही सिंचित होकर पनपता है।

वर्तमान परिस्थिति मे स्वतन्त्र मतदान का प्रयत्न किया जा रहा है। यह प्रयत्न स्वस्थ है पर इसके सामने वाधाओ की लम्वी शृंखला है। प्रथम वाधा यह है कि मत-आदाताओ की साधन-शुद्धि में आस्था नही है। मत-प्राप्ति का तात्कालिक लक्ष्य चुनाव में जीतना है। उम्मीदवार जीतने की चिन्ता करते है पर उनकी जीत कैसे होती है, इसकी चिन्ता नहीं करते।

राजनीतिक दल और उसके कार्यक्रम की प्रतिष्ठा ओर व्यक्ति की

अपनी प्रतिष्ठा—इन दो साधनो को निर्दोष कहा जा सकता है। आर्थिक प्रलोभन, शक्ति और सत्ता का दबाव, साम्प्रदायिकता और जातीयता का उभार, मदिरापान आदि वर्ज्य आदतों को बढावा—ये सब दोषपूर्ण साधन हैं। इनका उपयोग यथासम्भव किया जाता है। इन दोषपूर्ण साधनों से मतदाता-वर्ग की स्वतन्त्र चेतना लुप्त हो जाती है। वह अपना मत परतन्त्र बुद्धि से देता है और अन्त तक उसका उपयोग परतन्त्रता की पुष्टि के लिए होता है। इस प्रकार परतन्त्रता की काली छाया अनन्त और अबाध हो जाती है।

दूसरी बाधा यह है कि समाजवाद के परिधान में व्यक्तिवाद निरंकुश हो रहा है। राष्ट्रीय हित की प्रधानता हो तो कोई भी व्यक्ति या दल चुनाव जीते पर वह अवैध उपायो से जीतने की बात नहीं सोच सकता। क्योकि वैसा करना राष्ट्रीय हित के विपरीत होता है। आज जनता की शिकायत है कि राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो रही है। क्षीणता के हेतु हैं :

१. भ्रष्टाचार।

२. संकीर्णता का विकास ; जैसे—प्रान्तीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता, भाषा आदि का तनाव।

विधायिकाओ के सदस्य राष्ट्रीय जनमत का प्रतिनिधित्व करते है, इसलिए उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे राष्ट्रहित के सर्वाधिक सजग प्रहरी हो। किन्तु व्यक्ति-हित या संकीर्ण हित को सर्वोपरि मानने की मनोवृत्ति वदले बिना ऐसा होना संभव नही है।

तीसरी वाधा है, जनता का अशिक्षित होना। हिन्दुस्तान विश्व का सबसे वड़ा जनतन्त्रीय देश है। किन्तु जनमत अल्प-जागृत है। इसलिए उसका अनुचित लाभ उठाने मे कठिनाई प्राप्त नही होती है।

इन वाधाओं की समाप्ति के लिए जब मै सोचता हूं तो मेरी दृष्टि मे तीन बातें घूम जाती है :

१ चरित्र-विकास।

२. सामुदायिक परिस्थिति का विकास।

३. प्रशिक्षण की पद्धति का विकास।

तीन चुनाव हो चुके है, फिर भी उनका समुचित विकास नहीं हुआ है।

जयप्रकाश नारायण जैसे स्वतन्त्र-चेता लोग राष्ट्रीय सरकार की उपयोगिता का प्रतिपादन कर रहे हैं और दल-प्रतिबद्ध लोग उसकी कठिनाइयो का प्रतिपादन कर रहे हैं। पर क्या इनमें भी कोई कठिनाई होगी कि चरित्र-विकास, सामुदायिक भावना का विकास तथा लोकतंत्रोपयोगी प्रशिक्षा-पद्धति का विकास करने के लिए कोई राष्ट्रीय स्तर पर समुचित व्यवस्था हो। यदि सरकार, विरोधी दल तथा अन्य बुद्धिजीवी लोग मिल-जुलकर कोई ऐसा उपाय ढूंढ़ निकालें तो उससे न केवल चुनाव की खामिया ही कम होंगी, किन्तु जीवन के शेष पक्ष भी समाधान की दिशा में गतिशील होंगे।

विश्व-शान्ति एवं अणु-शस्त्र

मनुष्य में छिपाने की मनोवृत्ति है, इसीलिए मैत्री का स्वर दुर्बल है। स्पष्ट के प्रति सन्देह नहीं होता। अस्पष्टता उसे उत्पन्न करती है। जहां सन्देह होता है, वहां व्यवहार हो सकता है, मैत्री नहीं हो सकती। अमैत्री और अशान्ति तथा मैत्री और शान्ति मे इतना निकट का संवंध है कि इन्हे हम अलग-अलग नही देख सकते।

अस्पष्टता का हेतु आकांक्षा है। मनुष्य अपनी आकाक्षा की पूर्ति के लिए दूसरो के हित की हत्या का प्रयत्न करता है। उसे वह स्पष्ट कैसे रख सकता है ? वह अपने प्रयत्न को छिपाएगा। फलतः सन्देह और अमैत्री की वृद्धि होगी। आकाक्षा, अस्पष्टता, सन्देह और अमैत्री का व्यूह इतना दुर्भेद्य है कि प्रयत्न करते हुए भी लोग उसे तोड़ नही पा रहे है। शस्त्रीकरण इसी अक्षमता का परिणाम है। शस्त्रो की निरकुश स्पर्धा से आज एक विचित्र वातावरण की सृष्टि हुई है। उस वातावरण मे कोई भी देश सुरक्षित नही है। लोग मानें तो मान सकते है कि सुरक्षा के साधन आज बहुत प्रवल हैं। किन्तु यह न मानने का भी कोई कारण नही कि असुरक्षा आज जितनी नग्न है, उतनी पहले कभी नही थी। मैं सुरक्षा और असुरक्षा के प्रश्न को द्वितीय स्थान देता हू। मेरी दृष्टि में प्रथम स्थान कर्तव्य का है। मनुष्य वुद्धिमान प्राणी है, इसलिए उसके सामने पहला प्रश्न यह है कि उसका कर्तव्य क्या है—मानवीय एकता का विघटन या संघटन ?

मानवीय एकता का विघटन होने पर क्या मनुष्य-जाति का भविष्य सुरक्षित रहेगा ? क्या वह कर्तव्य हो सकता है, जिससे मनुष्य-जाति का भविष्य अन्धकारमय बने ?

मानवीय एकता का संघटन ही कर्तव्य हो सकता है। उसकी प्रेरणा समानता है। जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की भिन्नता मे भी मानवीय अभिन्नता है। उसे गौण करने का मुख्य हेतु है व्यक्तिगत आकांक्षा और अहम्। अपनी समृद्धि और बडप्पन में जो रस है, वह एक सीमा तक न्याय-सगत हो सकता है। किन्तु जब वह दूसरों के अस्तित्व को संकट में डालने लगता है तब वह सर्वमान्य न्याय-संगत धरातल से नीचे उतर आता है।

व्यक्तिगत आकांक्षा और अहम् मनुष्य की शाश्वत मनोवृत्ति है। शक्ति के साथ इसका जब-जब योग हुआ है तब-तब उन्माद बढ़ा है और फलतः रक्त-रंजित इतिहास की पुनरावृत्ति हुई है। नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि महत्त्व इसीलिए मिला कि वे व्यक्तिगत आकांक्षा और अहम् से युक्त शक्ति को विनम्रता में बदल देते है। जब-जब ऐसा हुआ है तब-तब मनुष्य जाति का इतिहास अधिक स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण रहा है। मैं जिन नैतिक मूल्यों की चर्चा कर रहा हूं उनमें पहला है संयम। संयम यानी वृत्तियो पर नियन्त्रण। अणुव्रत-आन्दोलन का घोष है—सयमः खलु जीवनम्। सयम ही जीवन है—इस पर सहसा विश्वास नही होता। पर थोड़े गहरे में उतरे तो लगेगा कि जितने लोग आत्महत्या या पर-हत्या करते हैं, वे सारे असयमी हैं। जितने लोग स्वयं जीते हैं और दूसरे के जीवन मे बाधा नही डालते वे सव संयमी हैं। समाज को जितनी आवश्यकता अर्थ की है, उससे अधिक आवश्यकता सयम की है। यह तर्कशुद्ध तथ्य है कि जिस व्यक्ति या संघ मे जितना संयम है, वह उतना ही स्वतन्त्र और शक्तिशा . । आप भौतिक या आर्थिक शक्ति में विश्वास कर सकते हैं पर कोरी भौतिक या आर्थिक शक्ति में विश्वास करना खतरा है—इस तथ्य को भुलाइए मत। आज की विकास-धारा में जो खटकने वाली कमी है, वह सतुलन की है। भौतिक शक्ति का विकास कभी दुःखद नही होता यदि वह संयम-शक्ति के विकास मे सन्तुलित हो। उस सभ्यता और सस्कृति का एक दिन दिवाला निकल जाएगा, जो वाहर से भरी-पूरी और भीतर से शून्य है।

अणुव्रत आन्दोलन आन्तरिक रिक्तता की पूर्ति के लिए पचसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत करता है :

१. सम्यक्-दर्शन,

२. सम्यक्-संकल्प,

३. सम्यक्-आचरण,

४. मानव की नव-रचना का प्रयत्न,

५. अध्यात्म का वैज्ञानिक अनुसन्धान,

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का स्वप्न जितना सुखद है, उतना ही जटिल है। किन्तु किसी भी प्रश्न को इसलिए नही छोडा जा सकता कि वह जटिल है। विवेक इसी बात मे है कि हर जटिल पहेली को सुलझाने का प्रयत्न किया जाए। आज की चर्चा उसी शृंखला की एक कड़ी है। यद्यपि हम यह मानकर चलते है कि शान्ति और अशान्ति का सूत्र राजनयिकों के हाथ मे है पर हम इस तथ्य की अवहेलना नही कर सकते कि राजनयिकों का भाग्य-सूत्र जनता के हाथ में है। जनता का उद्‌बुद्ध मानस एक दिन इस दिशा मे अवश्य गतिमान होगा कि कुछेक महत्त्वाकांक्षी लोग अब मानवता के साथ खिलवाड नही कर सकेंगे।

समर के दो पहलू

प्राचीन साहित्य में उस सम्राट् की यशोगाथा मिलती है, जिसका मन साम्राज्य-विस्तार की भावना से भरा था और जिसने अनेक राजाओ को राज्य-च्युत कर अपना साम्राज्य बढाया था। इससे पता चलता है कि उस समय साम्राज्य का विस्तार निन्दनीय नही माना जाता था। आज का जन-मानस विकसित हुआ है। आज साम्राज्यवादी भावना को घृणा की दृष्टि से देखा जा रहा है। आज कोई भी राष्ट्र साम्राज्य-विस्तार का स्वप्न देखने की स्थिति मे नहीं है।

हो सकता है कभी मानवीय चेतना इतनी विकसित हो जाए कि जनता युद्ध को भी घृणा की दृष्टि से देखने लगे। किन्तु अब तक ऐसा नही हुआ है। ऐसा लगता है, युद्ध के कारण भले अशाश्वत हो, युद्ध शाश्वत है।

मनुष्य मे अपनाने की मनोवृत्ति है और जिसे अपनाता है, उसके लिए मर-मिटने की भावना भी है। यही युद्ध है।

जिसका अपना कोई नही, उसके लिए संसार मे युद्ध भी नही है। इस वृत्ति का कोई व्यक्ति मिल सकता है, समाज नही मिलता। इसलिए सामाजिक लोगो ने समय-समय पर युद्ध की गाथाए गायी हैं। एक श्लोक जनसाधारण मे प्रचलित है :

जिते च लभ्यते लक्ष्मीः, मृते चापि सुरांगना।
क्षणभंगुरको देहः, का चिन्ता मरणे रणे।।

—'युद्ध में जीतने पर लक्ष्मी मिलती है, मरने पर देवांगना। यह शरीर क्षणभगुर है, फिर युद्ध मे मौत हो जाए तो क्या चिन्ता है ?'

काव्य की धारा में वीर-रस का अपना स्थान है। शृगार और वीर—ये दो रस नहीं होते तो काव्य की धारा कभी की सूख जाती। मनुष्य में पराक्रम होता है और वीरत्व का वातावरण पाकर वह फूट पडता है। शौर्य के सारे कारनामे इसी स्थिति मे होते हैं।

पराक्रम के दो पहलू—अपना विस्तार और अपना संरक्षण ही समर के दो पहलू हैं। अपना विस्तार अब अमान्य हो चुका है, इसलिए जनता की विस्तारवादी मनोवृत्ति से लडने वालों और अपनी रक्षा की भावना से लडने वालों को एक ही तुला से नही तोलती।

हिन्दुस्तान के जवानो ने अभी पाकिस्तान के साथ जो लड़ाई लड़ी, वह अपने सरक्षण की लडाई है। यदि हिन्दुस्तान विस्तारवादी भावना से लड़ाई लडता तो उसका विरोध करने वालो मे मै पहला व्यक्ति होता।

हिन्दुस्तानी जवानो ने इस लडाई मे जो पराक्रम दिखाया, वह उनकी सैनिक परम्परा के अनुरूप ही है। किन्तु पाकिस्तानी जनता के प्रति उन्होंने जिस घृणारहित भावना का परिचय दिया, वह सचमुच उनकी नैतिक निष्ठा का ज्वलन्त प्रमाण है। भारत के प्राचीन वीरो ने पराक्रम के अद्भुत कार्य किए थे किन्तु इतिहासकार मानते है कि उनमे रणनीति का अभाव था। इस वार भारतीय सैनिको ने रणनीति, पराक्रम और नैतिक निष्ठा—तीनो का समन्वित परिचय दिया है। इतिहासकार इस लडाई को भारतीय सैन्य परम्परा मे विलक्षण लडाई मानेगा और इसका अकन अपनी सुरक्षा के स्तर पर होगा।

युद्ध और सन्तुलन

हिन्दुस्तान अभी युद्ध की स्थिति से गुजर रहा है। युद्ध सचमुच अवांछनीय होता है। उसके परिणाम विजेता और पराजित दोनो राष्ट्रो को भुगतने होते है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने तथा युद्ध न होने देने के प्रयत्न वर्षो से चल रहे हैं, फिर भी वह कही-न-कही भडक उठता है।

जो लोग गरीबी, अशान्ति और अराजकता की स्थिति से लाभ उठाना चाहते हैं, वे ही युद्ध का अनुमोदन कर सकते हैं। सम्पन्नता, शान्ति और व्यवस्था मे विश्वास करने वाले लोग युद्ध का अनुमोदन नहीं कर सकते। वे युद्ध को परिस्थिति की विवशता मानकर स्वीकार करते है।

मैं एक अहिंसक की दृष्टि से देखता हूं, निष्पक्ष भाव से सोचता हू तो मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान अभी विवशता या अनिवार्यता की स्थिति मे युद्धक्षेत्र में उतरा है। उसके युद्ध में संलग्न होने का हेतु दूसरे राष्ट्र को निगलना नही, किन्तु अपनी सुरक्षा है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि वह युद्ध में सलग्न है।

युद्ध मे संलग्न राष्ट्र के नागरिको के कुछ विशेष कर्तव्य होते है। मै प्रत्येक देशवासी से कहना चाहता हूं कि इस समय के कर्तव्य-पालन मे अधिक जागरूक रहे और अपने-अपने कार्यक्षेत्र के लोगो को कर्तव्य के प्रति जागरूक वनाएं।

नैतिक निष्ठा, साम्प्रदायिक एकता, अनुशासन, व्यवस्था और शाति—ये सामान्य स्थिति मे भी अपेक्षित होते है। युद्धकाल में इनकी अपेक्षा और अधिक वढ जाती है।

नैतिक निष्ठा

नैतिक निष्ठा का अर्थ है, कोई व्यक्ति मिलावट, मूल्य-वृद्धि, मुनाफाखोरी, जमाखोरी न करे। अपने थोड़े-से स्वार्थ के लिए कृत्रिम अभाव पैदा कर राष्ट्र को संकट मे न डाले।

साम्प्रदायिक एकता।

हिन्दुस्तान सम्प्रदाय-निरपेक्ष जनतन्त्री राष्ट्र है। यह दुनिया का सबसे बडा जनतन्त्र है। यहा हर व्यक्ति वाणी, लेखन, विचार-प्रकाश और धार्मिक उपासना करने मे स्वतन्त्र है। यहां विविध भाषाएं, विविध जातियां और विविध धर्म-सम्प्रदाय है। किन्तु इन विविधताओं के होने पर भी सब एक है। वे एक इस अर्थ में है कि वे सव भारतीय है। वे भारत की पवित्र मिट्टी में जन्में हैं और उसी में उन्हें मरना है। साम्प्रदायिक विग्रह से वह पवित्र मिट्टी कलकित होती है, राष्ट्र शक्तिहीन होता है और व्यक्ति का मन अपवित्र होता है, इसलिए साम्प्रदायिक एकता पर विशेष वल दिया जाए।

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और व्यवस्था-विहीन राष्ट्र को पराजित करने के लिए शत्रु की आवश्यकता नहीं, वह अपने-आप पराजित हो जाता है। इसलिए विजय की आकाक्षा रखने वाले राष्ट्र की जनता का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वह शान्ति, अनुशासन और व्यवस्था को भंग न करे।

जिस राष्ट्र में नैतिक निष्ठा, साम्प्रदायिक एकता, अनुशासन और व्यवस्था होती है, वहा शान्ति अपने-आप हो जाती है। वह उक्त आचरणो का परिणाम है।

आज भारतीय सेना विजयश्री का वरण कर रही है, इसलिए भारतीय नागरिक पर अधिक उत्तरदायित्व आ गया है। इस युद्ध में तानाशाही के सामने जनतन्त्र की शक्ति सुदृढ़ है। साम्प्रदायिकता के सामने असाम्प्रदायिकता को वल मिला है। भारतीय नागरिक को इसका गौरव होना चाहिए कि वह उस देश का नागरिक है, जहां तानाशाही नहीं है

किन्तु जीवन-यापन की स्वतन्त्रता है, जहा साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं किन्तु उदारता का वातावरण है। वह अपना दायित्व समझते हुए ऐसा आचरण करे जिससे राष्ट्र की श्रेष्ठ परम्पराओं और मानवीय मूल्यों को संरक्षण और समर्थन मिले।

व्यक्ति और समाज-निर्माण

अनैतिकता स्वाभाविक नही है। वह प्रेरणा-जनित है। उसकी मुख्य प्रेरणाएं है—हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह। इनकी प्रेरक हैं—स्वार्थ, भय, लोभ आदि मूल प्रवृत्तियां। मूल प्रवृत्तियों के शोधन में हिंसा-वृत्ति का शमन होता है और हिसा-वृत्ति के शमन से अनैतिकता का शमन होता है।

केवल परिस्थितियो की अनुकूलता से अनैतिकता नहीं मिटती। उसके मिटने में हिसा तथा उसकी प्रेरक वृत्तियो का मिटना बहुत अपेक्षित है।

परिस्थितियो की अनुकूलता होने पर उनसे उत्पन्न होने वाले अनैतिक व्यवहार मिट जाते है, किन्तु व्यक्ति की मूल वृत्तियो से उत्पन्न होने वाले व्यवहार नही मिटते।

व्यक्ति मे हीनता की वृत्ति होती है, उससे वह अपने को दूसरो से हीन मानता है। गर्व की वृत्ति से वह अपने को दूसरों से उच्च मानता है। आग्रह की वृत्ति से वह दूसरो के अस्तित्व को स्वीकार कर देता है। अधिकार-वृत्ति से वह दूसरो को अपने अधीन वनाए रखना चाहता है।

भय, पक्षपात, लोभ, वासना—इन वृत्तियों से प्रेरित हो व्यक्ति असत्यवादी, अप्रामाणिक, विलासी और संग्रह-लोलुप बनता है।

अध्यात्म का दार्शनिक पक्ष यह है कि आर्थिक समृद्धि और भौतिक शिक्षण से इन वृत्तियो का परिष्कार नहीं होता। इनका परिष्कार मन की पवित्रता, सन्तुलन और स्थिरता से होता है।

मन को पवित्र, सन्तुलित और स्थिर करने के मुख्य साधन दो हैं :

१. संकल्प-शक्ति का विकास।

२. ध्यान का विकास।

संकल्प-शक्ति के विकास से जीवन में व्रत का अवतरण होता है। व्रत का अर्थ है अकरणीय कार्य से अपने को अलग रखना। यह शक्ति सकल्प का बार-बार अभ्यास कर लेने के बाद प्राप्त होती है। अहिंसा का संकल्प कर लेने मात्र से जीवन में अहिंसा नहीं उतर आती, किन्तु उसका बार-बार चिन्तन और अभ्यास करने से वह जीवन में उतरती है।

संकल्प को शिथिल बनाने वाली वस्तु है मन की चंचलता। उस पर नियंत्रण किए बिना कोई भी व्यक्ति व्रती नहीं बन सकता। मन को अचचल बनाने का साधन ध्यान है।

संकल्प-शक्ति के विकास के साथ व्रत का प्रारम्भ होता है और ध्यान के विकास के साथ वह जीवन में स्थिर होता है। सकल्प-शक्ति और ध्यान की साधना से प्राप्त व्रत से अनुशासित जीवन वास्तविक अर्थ मे मानवीय जीवन होता है। अणुव्रत इसी अर्थ मे व्यक्ति-निर्माण का रचनात्मक कार्यक्रम है।

समाज के अस्तित्व के तीन आधार हैं :

१. कामैषणा : काम की इच्छा।

२. वित्तैषणा : अर्थ की इच्छा।

३. सुतैषणा : सन्तान की इच्छा।

व्यवस्था समाज के संचालन की पद्धति है। इसमें मूल हेतु अर्थ है। महामंत्री कौटिल्य ने अपना अभिमत इन शब्दो में व्यक्त किया है :

अर्थ एव प्रधानमिति कौटिल्य :
अर्थमूलौ हि धर्म-कामौ—

समाज की नीव मे अर्थ ही प्रधान है। धर्म (व्यवस्था) और काम दोनो का मूल आधार अर्थ ही है।

अर्थ जैसे समाज के अस्तित्व का मूल आधार है, वैसे ही सामाजिक समस्याओ का भी वह मूल हेतु है।

आर्थिक विपमता से हिंसा, विद्रोह, अनैतिकता, तनाव, आतंकपूर्ण वातावरण असत्य, अप्रामाणिकता—ये सारी समस्याए उभर आती है।

मेरी दृष्टि मे हिंसा के लिए अर्थ नहीं है, अर्थ के लिए हिंसा है।

अर्थ-संग्रह की समस्या को सुलझाए बिना हिंसा की समस्या सुलझ नहीं सकती। इस स्थिति में यह समझा जा सकता है कि अनैतिकता की मूल प्रेरणा आर्थिक समस्या है।

अधिक उत्पादन और समुचित वितरण के द्वारा इस समस्या को सुलझाने के प्रयोग राजनीति के क्षेत्र में चल रहे हैं।

अणुव्रत असंग्रह और अहिसा के विकास द्वारा इस समस्या को सुलझाने में योग दे रहा है।

राजनीति व्यवस्था देती है और अणुव्रत हृदय-परिवर्तन। कोरे अणुव्रत से समाज की व्यवस्था नहीं बनती और कोरी व्यवस्था से समाज मे स्वतन्त्रता निष्पक्ष नही होती। व्यवस्था और स्वतन्त्रता दोनो के योग से समाज में सौष्ठव का विकास होता है।

हृदय-परिवर्तन द्वारा प्राप्त स्वतन्त्रता ही वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्रता है। उसे प्राप्त करने का साधन अणुव्रत है। इसी अर्थ मे अणुव्रत समाज-निर्माण का रचनात्मक कार्यक्रम है।

आत्मा की स्वतन्त्र चेतना के द्वारा व्यक्ति-निर्माण और समाज-निर्माण का जो मार्ग है, वही अणुव्रत है।

राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं और अणुव्रत

सामाजिक जीवन और समस्याएं— दोनों साथ-साथ चलते है। ऐसा न कभी हुआ, न है और न होने वाला है कि सामाजिक जीवन हो और समस्याएं न हों। समस्याएं जीवन की प्रक्रिया में से उपजती हैं, वे कही आकाश से नही टपकती। मनुष्य का काम है समस्याओं का निरसन। जो हाथ धरे बैठा रहता है, उसे समस्याएं धर दबाती है और जो समस्याओं के सिर पर पैर रखकर चलता है, वह समस्याओं को पछाड देता है। यह एक मल्लयुद्ध है। इसमे जो दाव चूक जाता है, वह चूक जाता है। मैं इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे, अणुयुग के यौवन में, समस्``ओ से घिरे हुए वातावरण मे, आप लोगों से अनुरोध करता हू कि आप इस दाव को न चूके।

समस्याओं के अभिरूप

आज की समस्याए क्या है ? पहले मैं यह बताना चाहूंगा और बाद में यह बताने का प्रयत्न करूंगा कि उनका समाधान कैसे किया जा सकता है।

समस्या के चार अभिरूप हैं :

१. वैयक्तिक

२. सामाजिक

३. राष्ट्रीय

४. अन्तर्राष्ट्रीय

वैयक्तिक समस्या

हर व्यक्ति में :

१. जिजीविषा है

—जीने की मनोवृत्ति है।

२. मुमुक्षा है

—स्वतन्त्र रहने की मनोवृत्ति है।

३. लिप्सा है

—पाने की मनोवृत्ति है।

इन मौलिक मनोवृत्तियो की पूर्ति न होने पर वैयक्तिक समस्याएं उभरती हैं। जीने के साधन सुलभ न हों, उस स्थिति मे हर असम्भव वात सम्भव बन जाती है। आज के जागृत युग की बडी समस्या यह है कि जीने के साधन हर आदमी के लिए समान रूप में सुलभ नहीं हैं। इसके आलोक में मैं वर्तमान छात्र-आन्दोलन को देखता हूं। मैं देखता हूं कि छात्र-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में जीने के साधनों की दुर्लभता सक्रिय प्रेरणा है। वहुत सारे विद्यार्थी अभाव की स्थिति में पढ़ते है। कुछेक सम्पन्न विद्यार्थियो की तुलना मे वे अपने-आपको हीन पाते है तथा अध्ययन की मर्यादा में अपने-आपको बडी कठिनाई से निभा पाते हैं। फलस्वरूप उनके मन में असन्तोष उभरता रहता है। अवसर पाकर वह उग्र समस्या के रूप में फूट पडता है।

परतन्त्रता सव समस्याओं से बडी समस्या है—यह सचाई है तो दूसरी ओर यह भी सचाई है कि स्वतन्त्रता उसी व्यक्ति को मिलनी चाहिए, जो स्वतन्त्रता के योग्य बन जाए। प्रारम्भ में हर व्यक्ति परतन्त्र रहता है और उस स्थिति में कड़वे-मीठे अनुभवो को संजो-संजोकर वह स्वतन्त्र रहने के योग्य वनता है।

मैं इस प्रसंग मे इतना और जोड देना चाहता हूं कि आरम्भ में हर व्यक्ति को परतन्त्र रहना जरूरी है पर उसे परतन्त्रता की अनुभूति होना जरूरी नही है। इस वास्तविकता के प्रकाश में मैं वर्तमान विद्यार्थी-आन्दोलन को पढता हू तो मुझे लगता है कि इसकी पृष्ठभूमि मे परतन्त्रता की अनुभूति है। पर्याप्त आत्मीयता मिलने की स्थिति में आदमी को परतन्त्र होने पर भी परतन्त्रता की अनुभूति नहीं होती। आज का विद्यार्थी अपने शिक्षक से न आत्मीयता लेने की स्थिति मे है और न शिक्षक उसे आत्मीयता देने की

स्थिति मे है। इस स्थिति में परतन्त्रता की अनुभूति अनुशासन-हीनता के रूप में फूट पड़ती है।

हर आदमी अपूर्ण है, इसलिए उसके मन में लिप्सा का गड्ढा होता है। चरित्र-विकास से न भरा जाए तब वह इतना चौड़ा हो जाता है कि व्यक्ति स्वयं उसमे गिर जाता है। इस वस्तु-स्थिति के सन्दर्भ में छात्र-संघर्ष को देखता हूं तो शिक्षा-जगत् का एक बहुत वड़ा प्रमाद मेरे सामने आ खड़ा होता है। वह यह है कि छात्रो को लिप्सा का गड्ढा भरने की शिक्षा नहीं दी जाती।

सामाजिक समस्या

छात्रों की समस्या आज की ताजा समस्या है, इसलिए मैंने उस ओर इगित किया है। वैसे इन समस्याओ से हर व्यक्ति आक्रान्त है। वैयक्तिक समस्याए संगठित होकर सामाजिक समस्या का रूप ले लेती हैं अथवा यह भी कहा जा सकता है कि त्रुटिपूर्ण सामाजिक जीवन में संक्रान्त होकर सामाजिक बन जाती है। सामाजिक समस्याओं के मूल रूप ये तीन ही हैं—अभाव, दबाव और संग्रह—सत्ता का, धन का तथा अन्य किसी का। इस वातावरण में नैतिकता, सचाई के मूल्य विघटित हो जाते हैं।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्या

वैयक्तिक और सामाजिक समस्याएं राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को प्रभावित करती है। आज की ज्वलन्त राष्ट्रीय समस्या है, सत्ता को वनाये रखने तथा पाने का प्रयत्न और अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, वैचारिक दासता की स्थापना का प्रयत्न और युद्ध।

समाधान

इन समस्याओं के अध्ययन के वाद मैं समाधान की दिशा मे कुछ कहना चाहूंगा। सामान्य व्यक्ति की समस्याएं तव तक समाहित नही होतीं, जव तक सामाजिक व्यवस्था मे उन्हें उभारने वाले तत्त्व विद्यमान रहते हैं। क्या असाधारण सामाजिक विपमता की स्थिति में छात्र-आन्दोलन की समस्या

की सुलझाया जा सकता है ? क्या सहानुभूति के अभाव में अनुशासनहीनता की समस्या को सुलझाया जा सकता है ? क्या चारित्रिक मानदण्डों की प्रतिष्ठा के बिना उबलते हुए असन्तोष की समस्या को सुलझाया जा सकता है ? मुझे यह सम्भव नहीं लगता। इन्हें सुलझाने का मार्ग है :

१. समानता की प्रतिष्ठा,

२. सहानुभूति की प्रतिष्ठा,

३. चारित्रिक मानदण्डों की प्रतिष्ठा।

पहला काम सरकार और धनी वर्ग का है, दूसरा काम पूर्व पीढ़ी का है और तीसरा काम समूचे समाज का है।

चारित्रिक मानदण्ड

सामाजिक चरित्र के मानदड ये हो सकते है :

मानवीय समता : जातीय विषमता की अस्वीकृति।

मानवीय एकता : सामाजिक विषमता की अस्वीकृति।

प्रामाणिकता : समग्र समाज द्वारा असम्मत आचरण का वर्जन।

पवित्रता : अकर्तव्य का अपनी स्वतन्त्र भावना से वर्जन।

अणुव्रत की दिशा

अणुव्रत इन्ही चारित्रिक मानदडो की स्थापना का एक प्रयत्न है। इसमें जातीयता को कोई स्थान नहीं है, इसलिए हर जाति के लोग अणुव्रती बनते हैं। इसमे साम्प्रदायिकता को कोई अवकाश नही है, इसीलिए हर सम्प्रदाय के लोग अणुव्रती बनना पसन्द करते हैं।

प्रयोग की आवश्यकता

सामाजिक विपमता के विरुद्ध अणुव्रतियो ने कोई प्रयोग प्रस्तुत नहीं किया है। विपमता वल-प्रयोग से ही मिट सकती है। हृदय-परिवर्तन वहां काम नही करता। यह धारणा निन्यावे प्रतिशत से अधिक लोगो की है। इसका उन्मूलन यदि हो सकता है तो किसी प्रायोगिक पद्धति से ही हो सकता है। अणुव्रत कार्यकर्ता यदि इस दिशा मे कुछ सोचें तो यह हिसा या

बल-प्रयोग को बहुत बड़ी चुनौती हो सकती है।

मनुष्य अपनी स्वतन्त्र भावना से हिंसा, संग्रह तथा सुख-सुविधाओं क त्याग सकता है। इसकी स्थापना वडी-से-वड़ी वैज्ञानिक उपलब्धि से भ अधिक महत्त्वपूर्ण होगी।

मेरे मन मे बहुत बार ऐसी भावना उठती है कि अणुव्रत अध्यात्म क ऐसी प्रयोगशाला बने, जहां मनुष्य मानवीय समता का प्रत्यक्ष दर्शन क सके। उसमें विषमता व्यवस्था-संचालन के अतिरिक्त कही भी न हो। इ संकल्प में आस्था रखने वाले अणुव्रतियों को मैं आह्वान करता हूं कि इस दिशा में कुछ सोचें और संयम का उदाहरण प्रस्तुत करे।

चुनाव

मैं राष्ट्रीय परिस्थिति पर दृष्टि डालता हूं, तो मुझे सर्वप्रथम चुनाव दिखा देता है। चुनाव लोकतन्त्र का प्राण है। इसकी अवधि में हर नागरिक व अपने स्वतन्त्र कर्तव्य का भान होता है। चुनाव में दो पक्ष हो हैं—मत-आदाता और मतदाता। दोनों के लिए यह अवसर राष्ट्र-देवता व स्वतन्त्रता-वेदी पर अपनी आस्था का अर्घ्य चढाने का होता है पर प्रा ऐसा होता नहीं है। उस अवधि में स्वतन्त्रता की हत्या के प्रयत्न अधि होते हैं। प्रलोभन, धमकियां, दबाव, छीनाझपटी, जातीयता अ साम्प्रदायिकता को उभारना आदि-आदि प्रवृत्तियां उस समय मुक्तभाव काम में लायी जाती है। शेष समय में जिन चारित्रिक मानदंडो की स्थाप के प्रयत्न होते हैं, वे उस समय उन्मूलित किये जाते हैं। उस समय ऐ विष-बीजों की बुवाई होती है कि शेष समय में प्रयत्न करने पर भी उन फलभोग से समाज मुक्त नहीं हो सकता। मै चाहता हू कि अणुव्रती इ दिशा मे अपने सकल्प और पुरुषार्थ का प्रयोग करें।

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को मैं मानवीय समस्याएं मानता हूं। युद्ध व समस्या किसी राष्ट्र की समस्या नही किन्तु मानवीय समस्या है। वैचारि धाराओ की भिन्नता मानवता के उत्थान में न लगे, इस विचार की पु करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है।

व्यापक कार्यक्रम

अणुव्रतियों के सामने कभी सिर्फ एक कार्य था—अणुव्रतों का स्वीकार। आज उनके कार्यक्रम बहुत व्यापक हो गए हैं। कार्य की अनेक दिशाएं खुल गई हैं। अणुव्रत साधना शिविर एक उल्लेखनीय प्रयत्न है। इन शिविरों से अणुव्रतियों के संकल्प पुष्ट होंगे और उनकी साधना स्फूर्त होगी। अणुव्रत साधना केन्द्र की प्रवृत्तियां चालू होने पर ये शिविर और अधिक उपयोगी हो सकेंगे। केन्द्रीय अणुव्रत समिति सगठन और संचार के कार्य मे सलग्न है। पर गति की तत्परता अभी अपेक्षा से कम है। अणुव्रत-विहार नैतिक-शिक्षा, लोकतन्त्र-शिक्षण आदि दिशाओं में काम कर रहा है। अभी उसके निर्धारित लक्ष्य पूर्ण रूप से प्रस्थापित ही नहीं हुए हैं। अन्य भी अनेक क्षेत्रो से अनेक लोग अनेक प्रवृत्तिया चला रहे है, उनमें बम्बई का मिलावट-विरोधी प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। अनेक साधु-साध्वियां अणुव्रत के प्रसार मे सलंग्न हैं। वे अनेक दिशाओ मे कार्य कर रहे हैं।

भावी-संकल्प

गत वर्ष जो हुआ, वह लक्ष्य-पूर्ति के लिए पर्याप्त नही है। आगामी वर्ष में उसकी पर्याप्तता प्राप्त करने का दृढ संकल्प करे और वे लोग करें जो अणुव्रती होने के साथ-साथ कार्यकर्ता भी हैं, जिन्होंने इस कार्य के लिए अपने समय और शक्ति का समर्पण किया है। यह संकल्प मानव-कल्याण की शाश्वत अपेक्षा है। उसकी पूर्ति से ही सामाजिक दुर्व्यवस्था रोकी जा सकेगी।[1]

---

१ अणुव्रत के सत्रहवे अधिवेशन पर पठित मगल-प्रवचन।

वासना-उभार की समस्या और समाधान

समस्या और समाधान ये दोनों तब से संयुक्त हैं जब से मनुष्य सामाजिक जीवन जी रहा है। समस्या का केन्द्र मनुष्य का मस्तिष्क है और समाधान भी वही से निकलता है। समस्या का हेतु बाह्य वातावरण है और वह समाधान का हेतु भी बनता है।

मस्तिष्क और वातावरण दोनों समस्या से संलग्न हैं, फिर भी हम वातावरण को बदलने का जितना प्रयत्न करते हैं, उतना माननीय मस्तिष्क को बदलने का नहीं करते।

मानस अनुशासित हो तो उत्तेजित करने वाले वातावरण के होने पर भी मनुष्य संयत रह सकता है। इसी क्रोटि के व्यक्ति को महाकवि भारवि ने धीर कहा है :

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते,
येषा न चेतांसि त एव धीरा :।।

आज का चिन्तक परिस्थिति के प्रति जितना नत है, उतना उसे स्वीकार करने वाले के प्रति नहीं है। संयम का सिद्धान्त परिस्थिति को स्वीकार करने वाले के प्रति जितना नत है, उतना परिस्थिति के प्रति नहीं है। संयम और परिस्थिति दोनो का उचित योग हो, यह अणुव्रत का स्वर है। जो लोग परिस्थिति-सुधार की बात करते है, मानस-शिक्षण की ओर ध्यान दें और जो लोग मानस-शिक्षण का प्रयत्न करते है, वे परिस्थिति-सुधार की ओर ध्यान दें। दोनों प्रवृत्तियां मिलकर पूर्ण होंगी।

अश्लील चलचित्र, साहित्य, विज्ञापन—ये मनुष्य की आंखों पर

आक्रमण करते है, उसकी सुप्त काम-वृत्ति को उद्दीप्त करते हैं। इसलिए शिष्ट लोग चाहते है, ऐसा न हो।

किन्तु प्रतिप्रश्न होता है इस अर्थ-प्रधान युग में ऐसा क्यों न हो ? एक व्यवसायी येन-केन-प्रकारेण धन कमाना चाहता है तो क्या एक फिल्म-निर्माता उस उपाय का आलम्बन लेना नहीं चाहेगा जिससे अधिक धन मिले ? अर्थ-लोलुपता और शिष्टता दोनों एक साथ नहीं चल सकती। फिल्म-निर्माताओं का यह उद्देश्य नहीं है कि अश्लील वृत्त प्रस्तुत कर जनता की काम-वृत्ति को उभारा जाय और उसके चरित्र को अस्त-व्यस्त किया जाए। उनका उद्देश्य है धन कमाना। उसकी पूर्ति के लिए उन्होने मनुष्य की दुर्बलता का लाभ उठाया है।

मनुष्य की दुर्बलता यह है कि वह काम-वृत्ति को उभारने वाले वृत्तो से अधिक आकृष्ट होता है। 'जनता को अधिक आकृष्ट करो और अधिक धन कमाओ'—इस नीति पर चलचित्र-व्यवसाय चल रहा है। अर्थ-लोलुपता की समस्या सुलझे बिना चलचित्र की समस्या सुलझ जाएगी, यह मानना भ्रान्ति है।

समस्या का दूसरा पहलू जनरुचि है। वह अभी बहुत अपरिष्कृत है। उसका परिष्कार करना शिक्षा-संस्थाओ, धार्मिक सस्थाओं और समाज-सेवियों का काम है।

मनुष्य को विरति उतनी प्रिय नही है, जितनी रति है। पर उसका जघन्य रूप जन-मन को आकृष्ट करे, यह हानिकर है।

समस्या का तीसरा पहलू है ब्रह्मचर्य के मूल्यों के प्रति अनास्था। भारतीय लोगो ने समस्या के समाधान का एक मार्ग सयम-शक्ति को माना था। जो समस्याएं अन्य किसी उपाय से नही सुलझती वे संयम-शक्ति से सुलझ सकती है—ऐसा उनका विश्वास था।

आज का भारतीय इस विश्वास को खो रहा है। सयप-शक्ति से जटिल समस्याएं भी सुलझ जाती है—यह तथ्य विस्मृत-सा हो रहा है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के मूल्यो मे कोई आस्था नही है।

ब्रह्मचर्य से व्यक्ति का मन और साहस अपराजेय होता है। अब्रह्मचर्य से मानसिक दुर्बलता और आत्म-विश्वास की क्षीणता प्राप्त होती है। यह सम्भव नही कि हर व्यक्ति ब्रह्मचारी रहे। यह कौन चाहेगा कि हर व्यक्ति

का मन दुर्बल और आत्म-विश्वास क्षीण हो। इसीलिए भारतीय समाज-शास्त्रविदों ने सीमित अब्रह्मचर्य की व्यवस्था की। उन्होंने अब्रह्मचर्य का विधान केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए किया। वासना-पूर्ति की उच्छृंखलता उन्हे कभी मान्य नहीं हुई।

यह सीमांकन मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित था किन्तु आज का भारतीय इस सीमा-रेखा को पार कर चुका है। उसे पार करने मे केवल अश्लील साहित्य और चलचित्र ही निमित्त हैं, ऐसा कहना निर्दोष नहीं है। रहन-सहन, खान-पान, शिक्षण, अभिभावको की उपेक्षा आदि अनेक निमित्त हैं, उनमें एक निमित्त अश्लील साहित्य और चलचित्र भी है।

इस प्रस्तुत समस्या पर विचार करें तो उसके सारे निमित्तो पर विचार करना संगत होगा। समस्या का समाधान उन सबके समाधान से ही सम्भव है। चलचित्र के अश्लील चित्रों को देख कोई आकृष्ट होता है तो वह इसलिए होता है कि उसका मन विकार से अधिक भरा हुआ है। उसका मन विकार से इसीलिए भरा हुआ है कि उसका मानसिक शिक्षण, रहन-सहन, खान-पान और आस-पास का वातावरण स्वस्थ नही है। अश्लीलता के प्रति जो आकर्षण है, वह स्वाभाविक नही है किन्तु वह इन सारी अस्वस्थताओं का परिणाम है। मै इस समस्या के सन्दर्भ में एक प्रश्न और उपस्थित करना चाहता हूं—क्या आज का बुनियादी व्यक्ति इन अस्वस्थताओं से बचना चाहता है? क्या उसकी दृष्टि मे अस्वस्थताओं की वही परिभाषा है, जो आस्थावान व्यक्ति की है ?

जिस धारा में पदार्थ की उपयोगिता से परे कोई सत्य नहीं, जहा वर्तमान जीवन से परे कोई अस्तित्व नहीं, जहा कृत की प्रतिक्रिया का सिद्धान्त नही, वहां नैतिकता के वे मूल्य नही हो सकते, जो पुनर्भवी अस्तित्व की धारा मे होते है। वहां अस्वस्थता की वह परिभाषा नही हो सकती, जो पुनर्भवी अस्तित्व की धारा में होती है।

इसलिए हमें वर्तमान युग से वहुत आशा नहीं करनी चाहिए। किन्तु बहुत निराश भी नही होना चाहिए। आध्यात्मिक मूल्य वर्तमान जीवन के लिए भी अनुपादेय नही हैं। उनकी सीमित उपादेयता व्यक्ति और समाज सवके लिए अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्य की सीमित उपादेयता को कोई उपेक्षित नहीं कर सकता। इसीलिए अश्लील साहित्य, चलचित्र और विज्ञापन का प्रश्न नैतिक होने के साथ-साथ सामाजिक महत्त्व का भी है।

शिष्ट समाज ने अपनी शिष्टता की सुरक्षा के लिए कुछ मर्यादाए बना रखी है। काम-वासना को उत्तेजना देने वाले अंगों और मुद्राओं को अनावृत करना सामाजिक मर्यादा के प्रतिकूल है। इसलिए शिष्ट लोग नहीं चाहते कि ऐसा वातावरण बने। नैतिकता की मर्यादा इससे बहुत आगे जाती पर अश्लीलता वासना को उभारकर सामाजिक जीवन को प्रभावहीन और अस्वस्थ न बनाए—इस दिशा मे दोनों एक बिन्दु पर पहुंच जाती है।

समस्या जो है, उसे कोई अस्वीकार करेगा। उसका समाधान पाना है। मानसिक शिक्षण, जनरुचि का परिष्कार और अस्वस्थ वातावरण से मुक्ति—इस परिस्थिति की सृष्टि ही उसका समाधान है। नैतिकता मे विश्वास रखने वाले सस्थान और व्यक्ति इस दिशा मे कार्य करें तो नये वातावरण के निर्माण में सन्देह नही किया जा सकता।

जैन-योग

साधना

जैन-तत्त्व-विद्या के अनुसार इस जगत् में मूल तत्त्व हैं—आत्मा और अनात्मा। जिस प्रकार खान मे स्वर्ण अशुद्ध रूप में होता है और समुचित उपायों से वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार संसारस्थ आत्मा अशुद्ध (वैभाविक रूप मे स्थित) होती है, समुचित उपायों से शुद्ध (स्वाभाविक रूप में स्थित) हो जाती है। आत्मा को अशुद्ध से शुद्ध बनाने के लिए जिन उपायों का आलम्बन लिया जाता है, उनका नाम साधना है।

साधना का प्रयोजन

आत्मा के स्वाभाविक रूप की व्याख्या निम्न आठ गुणों के माध्यम से होती है :

१. अनावृत ज्ञान २. अनावृत दर्शन ३. निराबाध आनन्द ४. सम्यक्त्व और पवित्रता ५. अचल अवगाहन ६. अमूर्तता ७. अगुरुलघु ८. निरन्तरायता।

जिसमे ये गुण प्राप्त होते है, वह आत्मा है। हमारे समक्ष जो आत्माए हैं, उनका यह स्वरूप साध्य है, सिद्ध नहीं है। इसलिए उसके तीन प्रकार किये गए है :

१. वहिर्-आत्मा २. अन्तर्-आत्मा, ३. परम-आत्मा।

जिस व्यक्ति में आत्मा और अनात्मा का विवेक नहीं है, वह वहिर्-आत्मा है। जिस व्यक्ति मे आत्मा और आनात्मा का विवेक है और जो समुचित उपायो का आलम्वन लेता है, वह अन्तर्-आत्मा है। जो समुचित उपायो के द्वारा स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है, वह परम-आत्मा है।

आत्मा की इन तीन अवस्थाओं में बहिर्-आत्मा हेय है। अन्तर्-आत्मा उपाय है। इसी का नाम साधना, मोक्ष-मार्ग या योग है। परम-आत्मा उपेय है। यही साधना का प्रयोजन है।

साधना के अंग

साधना के चार अंग हैं :

१. ज्ञान, २. दर्शन ३ चारित्र, ४. तप।

१. ज्ञान : आत्मा की अनुभूति या अविस्मृति।

२. दर्शन : आत्मा का साक्षात्कार।

३. चारित्र : आत्म-रमण।

प्रथम कक्षा : अणुव्रत की आराधना।

ये पाच है :

१ अहिंसा-अणुव्रत।

२. सत्य-अणुव्रत।

३. अचौर्य-अणुव्रत।

४ स्वदार संतोष-अणुव्रत।

५. इच्छा-परिमाण-अणुव्रत।

द्वितीय कक्षा : महाव्रत की आराधना।

ये पाच हैं :

१. अहिसा-महाव्रत।

२. सत्य--महाव्रत।

३. अचौर्य-महाव्रत।

४. ब्रह्मचर्य-महाव्रत।

५. अपरिग्रह-महाव्रत।

तृतीय कक्षा : वीतरागता की उपलब्धि।

४. तप : आत्म-संयम।

१. आहार-विजय	२. निद्रा-विजय
३. आसन-विजय	४. प्रतिसंलीनता
५. प्रायश्चित्त	६. विनय

७. सेवा ८. स्वाध्याय

९. कायोत्सर्ग १०. ध्यान

आहार-विजय

प्रथम कक्षा : कम खाना, कम बार खाना, कम मात्रा में खाना।
द्वितीय कक्षा : रस-परित्याग, स्वाद-विजय।
तृतीय कक्षा : यथाशक्ति आहार-परित्याग।

निद्रा-विजय

प्रथम कक्षा : दिन में न सोना।
द्वितीय कक्षा : रात में एक पहर न सोना।
तृतीय कक्षा : रात में दो पहर न सोना।
चतुर्थ कक्षा : रात में तीन पहर न सोना।

आसन-विजय

आसन तीन प्रकार के होते हैं :

१. उत्थित आसन : ये खड़े होकर किए जाते हैं।
२. निषण्ण-आसन : ये बैठकर किए जाते हैं।
३. शयन-आसन : ये सोकर किए जाते हैं।

प्रथम कक्षा : अड़तालीस मिनट तक आसन करना।
द्वितीय कक्षा : दो घंटे तक आसन करना।
तृतीय कक्षा : तीन घंटे तक आसन करना।
चतुर्थ कक्षा : एक दिन या रात तक आसन करना। एक दिन-रात तक तथा यथाशक्ति अनेक दिन-रात तक।

प्रतिसंलीनता

१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता : इन्द्रिय-संयम।
२. मनः प्रतिसलीनता : मन संयम।
३. कपाय-प्रतिसंलीनता : कपाय सयम।

४. उपकरण-प्रतिसंलीनता : उपकरण-संयम।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता :

प्रथम कक्षा : इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में लीन करने का अभ्यास। विषयों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास।

द्वितीय कक्षा : विषयों का द्रष्टा मात्र रहने और उनमे लीन न होने का अभ्यास।

इन्द्रियां पांच हैं : स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

मन : प्रतिसंलीनता :

प्रथम कक्षा : मन को अपने स्वरूप में लीन करने का अभ्यास।

द्वितीय कक्षा : विषयों का द्रष्टा मात्र रहने तथा उनमें लीन न होने का अभ्यास।

कषाय-प्रतिसंलीनता :

प्रथम कक्षा : कषाय को विफल करने का अभ्यास।

द्वितीय कक्षा : कषाय न करने का अभ्यास।

कषाय चार है : क्रोध, मान, माया और लोभ।

उपकरण-प्रतिसंलीनता :

प्रथम कक्षा : वाह्य सामग्री के प्रति मूर्च्छा का त्याग।

द्वितीय कक्षा : वाह्य सामग्री का अल्पीकरण या त्याग।

प्रायश्चित्त

प्रथम कक्षा : मानसिक ग्रंथियो का विश्लेषण।

द्वितीय कक्षा : मानसिक ग्रंथियो का निरसन।

विनय

सत्य के प्रति विनम्र होना।

सेवा

सत्य के प्रति समर्पित होना।

स्वाध्याय

प्रथम कक्षा : अध्ययन।
द्वितीय कक्षा : प्रश्न ।
तृतीय कक्षा : अनुस्मरण।
चतुर्थ कक्षा : अनुचिन्तन।
पंचम कक्षा : चर्चा।

कायोत्सर्ग

प्रथम कक्षा : काया की चंचलता का विसर्जन।
द्वितीय कक्षा : ममत्व का विसर्जन।

कायोत्सर्ग की मात्रा श्वासोच्छ्वास के द्वारा निर्धारित की जाती है, उसका अभ्यास-क्रम इस प्रकार है :

कायोत्सर्ग	मात्रा
१. कायोत्सर्ग	२५ श्वासोच्छ्वास।
२. कायोत्सर्ग	१०० श्वासोच्छ्वास।
३. कायोत्सर्ग	५०० श्वासोच्छ्वास।
४. कायोत्सर्ग	१००० श्वासोच्छ्वास।

इस विधि में 'लोगस्स' सूत्र या 'णमोक्कार' महामंत्र का आलंबन लिया जाता है। एक पद का चिन्तन एक श्वासोच्छ्वास में किया जाता है।

कायोत्सर्ग को आत्म-व्युत्सर्ग कहा जाता है। आत्म-व्युत्सर्ग करने वाला व्यक्ति 'अप्पाण वोसिरामि'—इन शब्दों में संकल्प लेता है। इस संकल्प की सिद्धि के साधक तीन है :

१. स्थान : शरीर की स्थिरता।
२. मौन : वाणी की स्थिरता।
३. ध्यान : मन की स्थिरता।

हमारी सारी चचलता का मूल शरीर है, वाणी और मन की चंचलता उसी पर निर्भर है। जैन-आचार्यो का अभिमत है कि शरीर की प्रवृत्ति निरुद्ध होने पर वाणी और मन की प्रवृत्ति अपने-आप निरुद्ध हो जाती है। वाणी और मन की प्रेरक सामग्री का संग्रहण शरीर की प्रवृत्ति से होता है। उनके

निरुद्ध हो जाने पर वे प्रेरक तत्त्व से विहीन होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। शरीर, वाणी और मन की निष्क्रियता ही कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति का उत्तम साधन है। मुमुक्षु का लक्ष्य होता है—आत्मा और देह का पृथक्करण।

भेद-ज्ञान—आत्मा और शरीर को भिन्न जानना हमारी साधना का ज्ञानात्मक पक्ष है। कायोत्सर्ग—आत्मा और शरीर की भिन्न रूप में अनुभूति करना हमारी साधना का क्रियात्मक पक्ष है।

ध्यान

प्रथम कक्षा : सालम्बन ध्यान।

मन को एकाग्र करना—किसी एक आलम्बन पर स्थिर करना।

द्वितीय कक्षा : निरालम्बन ध्यान।

मन को निरुद्ध करना।

आत्मोपलब्धि के वाधक तत्त्व

आत्मा की वैभाविक (ग्रंथिपात) दशा आश्रव के द्वारा होती है। आश्रव का अर्थ है विजातीय का आकर्षण। उसके पांच प्रकार है :

१. मिथ्यात्व : विपरीत दर्शन, स्वभाव-विमुखता।
२. अविरति : स्वभाव में अ-रति, विभाव मे रति।
३ प्रमाद . स्वभाव-उपलब्धि के प्रति अनुत्साह।
४ कषाय : स्वभाव का बाह्य से रंजन।
५. योग : चंचलता, बाह्य से सम्बन्ध।

आत्मोपलब्धि की कक्षाएं

आत्मा की स्वाभाविक दशा संवर द्वारा उदित होती है। यह आश्रव का प्रतिपक्ष है। आत्मा और वाह्य जगत् के सम्पर्क का माध्यम आश्रव है, संवर इन दोनों के सम्पर्क-विच्छेद का माध्यम है। उसके पांच प्रकार हे.

१. सम्यक्त्व : यथार्थ दर्शन, स्वभावोन्मुखता।

२. विरति : स्वभाव में रति।

३. अप्रमाद : स्वभाव उपलब्धि के प्रति उत्साह।

४. अकषाय : स्वभाव का बाह्य से अरंजन।

५. अयोग : स्थिरता, बाह्य से असम्बन्ध।

स्वभावोन्मुखता का अभ्यास जीव और पुद्‌गल के भेद-विज्ञान द्वारा विकसित होता है। भेद की अनुभूति जितनी स्पष्ट होती है, सम्यक्-दर्शन उतना ही स्पष्ट होता है। विरति का अभ्यास सत्य की अनुरक्ति से होता है। सत्य के प्रति समर्पण जितना प्रबल होता है, विरति उतनी प्रबल हो जाती है। सम्यग्-दर्शन और विरति का अभ्यास पुष्ट होने पर शेष संवर अपने-आप फलित होने लगते है।

तप से पूर्व बद्ध ग्रंथियों का मोचन होता है और संवर से ग्रथिपात रुक जाता है।

भावना-योग

बाह्य वातावरण, मान्यता, क्रिया और पुनः-पुनः चिन्तन से मन प्रभावित होता है। ये जैसे होते है, वैसी मनोदशा बन जाती है। मन पर प्रभाव डालने वाली इस सारी सामग्री को भावना कहा जाता है।

दैहिक भावनाओं को क्षीण और आत्मिक भावनाओं को पुष्ट करने के लिए अनेक आत्मोन्मुखी भावनाएं निर्दिष्ट हैं।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पुष्टि के लिए पाच-पांच भावनाएं निर्दिष्ट हैं। मानसिक आवेगों को क्षीण करने के लिए बारह भावनाएं तथा चार भावनाएं बतलाई गई हैं।

बारह भावनाएं ये हैं :

१. अनित्य	५. अन्यत्व	९. निर्जरा
२. अशरण	६. अशौच	१०. धर्म
३. भव	७. आश्रव	११. लोक
४. एकत्व	८. संवर	१२. वोधि-दुर्लभ

चार भावनाए ये है : १. मैत्री, २. प्रमोद, ३. करुणा ४. मध्यस्थ।

इनके अभ्यास से जो परिणाम निष्पन्न होते हैं, वे निम्न प्रकार है :

भावना	परिणाम
अनित्य	मानसिक साम्य
अशरण	आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता
भव	अनासक्ति
एकत्व	यथार्थ की अनुभूति
अन्यत्व	भेद-ज्ञान का विकास
अशौच	शुद्धि का व्यामोह भ्रश
आश्रव	ग्रंथिपात का विवेक
संवर	ग्रंथि-रोध
निर्जरा	ग्रंथि-मोक्ष
धर्म	आत्म-रमण
लोक	एकाग्रता
बोधि-दुर्लभता	दृष्टिकोण की शुद्धि
मैत्री	सर्वहित-चिन्ता
प्रमोद	प्रसन्नता
करुणा	समता
मध्यस्थ	मानसिक संतुलन

आगम सूत्रों मे भावना की नौका से तुलना की गई है। नौका का काम यही है कि उसके द्वारा मनुष्य तट तक पहुंच जाता है। भावना का उपयोग यही है कि उसके द्वारा मनुष्य असद् वृत्ति की नदी को पार कर सद् वृत्ति की भूमि तक पहुंच जाता है।

ध्यान

मन की दो अवस्थाएं है : १. चल, २. स्थिर।

चल अवस्था को चित्त और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। वस्तुत· चित्त और ध्यान एक ही मन (अध्यवसाय) के दो रूप है। मन जव गुप्त, एकाग्र या निरुद्ध होता है तव उसकी संज्ञा ध्यान हो जाती है। भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता—ये सव चित्त की अवस्थाएं है।

भावना : ध्यान के अभ्यास की क्रिया।

अनुप्रेक्षा · ध्यान के वाद होने वाली मानसिक चेप्टा।

चिन्ता : सामान्य मानसिक चिन्तन।

इनमें एकाग्रता का वह रूप प्राप्त नहीं होता, जिसे ध्यान कहा जा सके।

ध्यान शब्द 'ध्यैं चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन होता है, किन्तु प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नही किन्तु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना है।

ध्यान के प्रकार

एकाग्र चिन्तन को ध्यान कहा जाता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसके चार प्रकार होते हैं :

१. आर्त्त
२. रौद्र
३. धर्म्य
४. शुक्ल

१. आर्त्त-ध्यान : चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्त-ध्यान कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं :

(क) कोई पुरुष अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमोनज्ञ विषय) के वियोग का चिन्तन करता है—यह पहला प्रकार है।

(ख) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह दूसरा प्रकार है।

(ग) कोई पुरुष आतंक (सद्योघाती रोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग का चिन्तन करता है—यह तीसरा प्रकार है।

(घ) कोई पुरुष प्रीतिकर कामभोग के संयोग से संयुक्त है, वह उसके वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह चौथा प्रकार है।

आर्त्त-ध्यान के चार लक्षण हैं :

(क) आक्रन्द करना।

(ख) शोक करना।

(ग) आंसू बहाना।

(घ) विलाप करना।

२. रौद्र-ध्यान : चेतना की क्रूरतामय एकाग्र परिणति को रौद्र-ध्यान कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं :

(क) हिंसानुवन्धी—जिसमें हिंसा का अनुबन्ध—हिंसा में सतत प्रवर्तन हो।

(ख) मृषानुबन्धी—जिसमें मृषा का अनुबन्ध—मृपा में सतत प्रवर्तन हो।

(ग) स्तेनानुवन्धी—जिसमें चोरी का अनुबन्ध—चोरी में सतत प्रवर्तन हो।

(घ) संरक्षणानुबन्धी—जिसमे विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबन्ध—विषय के साधनों में सतत प्रवर्तन हो।

रौद्र-ध्यान के चार लक्षण है :

(क) अनुपरत दोष—प्रायः हिसा आदि से उपरत न होना।

(ख) बहु-दोष—हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

(ग) अज्ञान दोष—अज्ञानवश हिंसा आदि मे प्रवृत्त होना।

(घ) आमरणान्त दोष—मरणान्त तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

ये दोनो ध्यान पापाश्रव के हेतु है, इसीलिए इन्हें अनुप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। इन दोनों को एकाग्रता की दृष्टि से ध्यान की कोटि में रखा गया हे किन्तु साधना की दृष्टि से आर्त और रौद्र परिणतिमय एकाग्रता विघ्न ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही हैं—धर्म्य और शुक्ल।

इनसे आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हें प्रशस्त ध्यान कहा जाता है।

३. धर्म्य-ध्यान : वस्तु धर्म या सत्य की गवेपणा मे परिणत चेतना की एकाग्रता को धर्म्य-ध्यान कहा जाता है। इसके चार प्रकार है :

१. आज्ञा-विचय—प्रवचन के निर्णय मे संलग्न चित्त।

२. अपाय-विचय—दोषों के निर्णय मे संलग्न चित्त।

३. विपाक-विचय—कर्म-फलों के निर्णय में संलग्न चित्त।

४. संस्थान-विचय—विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय में संलग्न चित्त।

धर्म्य-ध्यान के चार लक्षण हैं :

(क) आज्ञा-रुचि—प्रवचन में श्रद्धा होना।

(ख) निसर्ग-रुचि—सहज ही सत्य में श्रद्धा होना।

(ग) सूत्र-रुचि—सूत्र पढ़ने के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न होना।

(घ) अवगाढ़-रुचि—विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

धर्म्य-ध्यान के चार आलम्बन हैं :

(क) वाचना—पढ़ाना।

(ख) प्रतिप्रच्छना—शंका-निवारण के लिए प्रश्न करना।

(ग) परिवर्तना—पुनरावर्तन करना।

(घ) अनुप्रेक्षा—अर्थ का चिन्तन करना।

धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाए हैं :

(क) एकत्व-अनुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना

(ख) अनित्य-अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना।

(ग) अशरण-अनुप्रेक्षा—अशरण-दशा का चिन्तन करना।

(घ) संसार-अनुप्रेक्षा—संसार-परिभ्रमण का चिन्तन करना।

४. शुक्ल-ध्यान—चेतना की सहज (उपाधि-रहित) परिणति को शुक्ल-ध्यान कहा जाता है। इसके चार प्रकार है :

(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी।

(ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी।

(ग) सूक्ष्म-क्रिय-अनिवृत्ति।

(घ) समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाति।

ध्यान के विषय द्रव्य और उसके पर्याय हैं। ध्यान दो प्रकार का होता है—सालम्वन और निरालम्बन। ध्यान मे सामग्री का परिवर्तन भी होता है और नहीं भी होता। वह दो दृष्टियो से होता है—भेद-दृष्टि से और अभेद-दृष्टि से। जव एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों—नयो से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्वन लिया जाता है तथा शव्द से अर्थ में और अर्थ से शव्द में एवं मन, वचन और काया में से

एक-दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को पृथकृत्व-वितर्क-सविचारी कहा जाता है।

जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन-वचन-काया मे से एक-दूसरे मे संक्रमण नही किया जाता, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को एकत्व-वितर्क-अविचारी कहा जाता है।

जव मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नही होता—श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म-क्रिय' कहा जाता है। इसका निवर्तन (ह्रास) नही होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

जब सूक्ष्म क्रिया का भी नरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न क्रिय' कहा जाता है। इसका पतन नही होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण है :

(क) अव्यथ : क्षोभ का अभाव।

(ख) असम्मोह : सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढता का अभाव।

(ग) विवेक : शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान।

(घ) व्युत्सर्ग : शरीर और उपाधि में अनासक्त-भाव।

शुक्ल-ध्यान के चार आलम्बन है :

(क) क्षान्ति · क्षमा।

(ख) मुक्ति : निर्लोभता।

(ग) मार्दव : मृदुता।

(घ) आर्जव : सरलता।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं :

(क) अनन्त वृत्तिता अनुप्रेक्षा : संसार परम्परा का चिन्तन करना।

(ख) विपरिणाम अनुप्रेक्षा : वस्तुओं के विविध परिणामो का चिन्तन करना।

(ग) अशुभ अनुप्रेक्षा : पदार्थो की अशुभता का चिन्तन करना।

(घ) अपाय-अनुप्रेक्षा : दोषो का चिन्तन करना।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को साधन षाट्क की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होता है। छः साधन ये हैं :

१. आहार, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. श्वासोच्छ्वास, ५. वाक्, ६. मन।

आहार-शुद्धि : यह हित, मित और सात्त्विक आहार से प्राप्त होती है

इन्द्रिय-शुद्धि : विषयों के प्रति निर्विकार और शान्त प्रवृत्ति करने से प्राप्त होती है।

श्वासोच्छ्वास-शुद्धि : यह दीर्घ श्वास तथा कायोत्सर्ग के द्वारा प्राप्त होती है।

वाक्-शुद्धि : यह पदों के दीर्घोच्चारण तथा अनवद्य वचन से प्राप्त होती है।

मन-शुद्धि : यह दृढ़ संकल्प करने तथा एक लक्ष्य पर स्थिर होने से प्राप्त होती है।

यह जैन-योग की सक्षिप्त रूपरेखा है।

वैज्ञानिक धर्म के प्रवक्ता भगवान् महावीर

ससार मे दो प्रकार के तत्त्व है—लौकिक और लोकोत्तर। कौन-से तत्त्व लौकिक है और कौन-से लोकोत्तर है ? इस वर्गीकरण में थोड़ी-सी जटिलता उपस्थित हो जाती है। सामान्यत. लौकिक तत्त्व उन्हे माना जाता है, जिनका सम्बन्ध इस दृश्यमान लोक से है। दूसरे शब्दों मे लौकिक तत्त्व वे हैं, जिनसे व्यवहार साधा जाता है। निश्चय की दृष्टि से देखा जाए तो लोकोत्तर तत्त्व है आत्मा और आत्मा के स्वरूप को उपलब्ध करने की सारी प्रक्रिया। इस परिभाषा के अनुसार आत्मशुद्धि का साधन धर्म एक लोकोत्तर तत्त्व है।

भगवान् महावीर लोकोत्तर धर्म के प्रवक्ता थे। लोकोत्तर धर्म का प्रवर्तन कर वे स्वयं भी लोकोत्तर बन गए थे। लोकोत्तर बनकर वे लोक से अदृश्य नहीं हो गए थे। उनके अभिमत से लोकोत्तर बनने का अर्थ था लोक को समग्रता से जानना या लोकाकार हो जाना। उन्होंने लोक को समग्रता से जाना, देखा और वे लोकाकार हो गए। लोक का कोई भी तत्त्व, फिर चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, उनकी ज्ञान चेतना से बाहर नहीं रहा। उनका ज्ञान इतना विशद था कि वह एक नया विज्ञान बनकर ससार मे चमका।

कुछ लोग धर्म और विज्ञान को दो विरोधी तत्त्व मानते हैं। इस मान्यता के आधार पर दो वर्ग स्थापित हो गए—एक वैज्ञानिको का वर्ग, 'दूसरा धार्मिको का वर्ग। इस वर्गीकरण की निष्पत्ति यह हुई कि विज्ञान भी अधूरा रह गया और धर्म भी पूर्णता के शिखर को नही छू सका। धर्म और विज्ञान की खण्डित प्रतिमाओं ने लोक-जीवन मे जो द्वन्द्व उत्पन्न किया, उससे लोगों की मानसिकता भी खण्डित हो गई। खण्डित मानसिकता से धर्म या विज्ञान का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अंकित किया जा सके, यह संभव नहीं लगता।

गहराई से देखा जाए तो धर्म और विज्ञान के उद्देश्यों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। धर्म का उद्देश्य है—अतीन्द्रिय चेतना का विकास और विज्ञान का उद्देश्य है अतीन्द्रिय तत्त्वों की खोज। अतीन्द्रिय चेतना के विकास या अतीन्द्रिय तत्त्वों की खोज का फलित है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान। स्थूल से सूक्ष्म मे प्रवेश की निष्पत्ति है नई संस्कृति का अवतरण। उस संस्कृति में जन्मे और पले-पुसे लोगों की दृष्टि, सोच और क्रिया मे स्वभाविक रूप से विलक्षणता के प्रतिबिम्ब उभरने लगते है।

विज्ञान ने मानव जाति को जो देन दी है, उससे समूचा ससार चकित है, उपकृत है, पर परितृप्त नही हो पाया है। 'ज्यों-ज्यों दवा की मर्ज बढता गया'—इस जनश्रुति के अनुसार जितने नये आविष्कार हुए, आवश्यकताएं उतनी ही बढ़ती गई तृप्ति की खोज में जिस गहरी प्यास का अवदान आदमी को मिला है, उससे उसकी आकांक्षाओं का अन्तहीन विस्तार होता जा रहा है।

भगवान् महावीर ने भी एक विज्ञान संसार को दिया। वह है परितृप्ति का विज्ञान। उनके अनुसार सबसे बडा विज्ञान है अहिसा या समता का सिद्धान्त। बीसवीं सदी का आदमी इस विज्ञान को सही रूप में समझ ले और अपने जीवन में इसका प्रयोग शुरू कर दे तो वह विशेष आह्लाद, अतिरिक्त अनुभूति और नई दीप्ति के साथ इक्कीसवी सदी में प्रवेश कर सकता है।

अहिंसा का विज्ञान रूस, अमेरिका या भारत के लिए ही नही, समूचे विश्व के लिए है। इसका सार्वभौम उपयोग है। विश्व के किसी भी कोने मे रहने वाले मनुष्य क्या, प्राणी मात्र के हितो की सुरक्षा है इस विज्ञान में। इसकी पृष्ठभूमि में भगवान् महावीर ने कहा—'सव्वे अकत दुक्खा य अओ सव्वे अहिसिया'—दु:ख किसी भी प्राणी को प्रिय नहीं है इसलिए संसार का कोई भी प्राणी वध्य नही है। इस सिद्धान्त ने अहिंसा की प्रासंगिकता को त्रैकालिक प्रमाणित कर दिया है।

भगवान् महावीर की अहिंसा का सम्वन्ध किसी के प्राण-वियोजन तक ही सीमित नहीं है। प्राण-वियोजन तो होना ही है। पर किसी प्राणी के मन को आहत करना भी हिंसा है, यह तो महत्त्वपूर्ण वात है। किसी प्राणी के प्रति अनिप्ट चिन्तन करना भी हिंसा है, यह कितना सूक्ष्म और वैज्ञानिक

तथ्य है।

कुछ लोगों का चिन्तन है कि हिंसा के बिना जीवन नहीं चल सकता। यह बात सही है। पर जीने के लिए हिंसा की अनिवार्यता होने मात्र से हिंसा को सिद्धान्त तो नही माना जा सकता। जिन प्रावादुकों ने हिंसा को सिद्धान्त रूप में अपनी स्वीकृति दी, भगवान् महावीर ने उन सबको एकत्रित कर अपनी ओर से स्पष्ट उद्घोषणा करते हुए कहा—'सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्देवेयव्वा'। किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व का हनन नही करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हे दास नही वनाना चाहिए उन्हे परिताप नहीं देना चाहिए और उनका प्राण वियोजन नही करना चाहिए।

अहिसा की यह उन्नत भूमिका आत्मौपम्य की भावना से ही प्रशस्त हो सकती है। जो लोग इसकी अवहेलना कर प्राणियों को हंतव्य मानते हैं, वे भी अपने बचाव के लिए सदा तत्पर रहते है। वे दूसरो से कहते हैं—'तपे हुए लोहे का गोला हाथ मे लो।' उन्हें कहा जाए कि वह गोला वे स्वयं हाथ मे लेकर दे तो वे कह देते है—हम तो इसे हाथ मे नही लेगे। हाथ मे लेने से हमारा हाथ जल जाएगा। उनका हाथ जल जाएगा, तो दूसरो का क्यो नही जलेगा ? जो स्थिति स्वय के लिए पीडक है, वह दूसरो के लिए पीडक क्यो नही होगी ?

भगवान् महावीर ने तत्त्व को समझने की दो दृष्टियां दीं—सक्षेप दृष्टि और विस्तार दृष्टि। संक्षेप दृष्टि से देखा जाए तो एक हिसा पाप है। इस निरूपण में संसार के समस्त पापो का समावेश हो जाता है। क्योकि हिसा का अर्थ है प्रमाद। असत्य भाषण, चोरी करना तथा इसी प्रकार के सव अपराध प्रमाद है। इसी वात को कुछ विस्तार से समझने की जरूरत हो तो हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन पांच पापो मे सव पाप अन्तर्गर्भित हो जाते है। और अधिक विस्तार दिया जाय तो अठारह पापो की व्यवस्था है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की विवक्षा से किए गए तत्त्व-निरूपण मे कहीं भी विप्रतिपत्ति की संभावना नही रहती। यह विवक्षा ऐसा विज्ञान है, जो साधक को पूरी तरह से सत्य के परिसर मे रख सकता है।

साधना के सम्बन्ध में भगवान् महावीर का दृष्टिकोण सर्वथा मौलिक था। सामान्यतः सभी धर्मो के संन्यासी आश्रमवासी बनकर साधना करते हैं। आश्रम व्यवस्था के साथ अरण्यवासी, पहाड या गुफावासी संन्यासियों का विवरण भी उपलब्ध होता है। महावीर ने कहा—साधना देश, काल और परिस्थितियों से अनुबन्धित नहीं होनी चाहिए। उन्होंने घूमते-फिरते साधना करने की विधा प्रचलित की। एकान्त साधना की दृष्टि से भी उन्होंने द्वार बन्द नहीं किए। जंगल, सूने घर, श्मशान आदि में उन्होने स्वयं साधना के विशिष्ट प्रयोग किए थे। किन्तु उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि एकान्तवास ही साधना के लिए उपयुक्त है। यदि एकान्त साधना का ही क्रम रहता तो सामूहिक साधना पद्धति विकसित ही नहीं हो पाती। भगवान् महावीर के साथ हजारों-हजारो साधकों के साधना करने से समूह चेतना के जागरण की नई-नई दिशाएं खुल गई।

साधना के साथ स्थान विशेष की प्रतिबद्धता न होने से जैन साधकों के लिए पदयात्रा भी साधना का एक अभिन्न अंग बन गया। यद्यपि कुछ व्यक्ति यहां तक कह देते हैं कि उस समय वाहनो की इतनी सुविधा नहीं थी, इसलिए पदयात्रा का प्रावधान किया गया। मेरे अभिमत से यह चिन्तन संकीर्ण दृष्टि का प्रतिफलन है। हमारे जितने तीर्थकर हुए हैं, वे सभी त्रिकालदर्शी थे। त्रिकालदर्शी व्यक्ति का चिन्तन कभी देश और काल से बाधित नहीं होता। भगवान् महावीर ने स्वयं पदयात्रा की और अपने शिष्यों को ग्रामनुग्राम विहार करने का निर्देश दिया। इस सन्दर्भ में विचार करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि पदयात्रा एक बड़ी तपस्या है और वैज्ञानिकता है।

विज्ञान के अनुसार पृथ्वी में ऊर्जा होती है। नंगे पांव चलने से उस ऊर्जा के साथ शरीर का सीधा सम्बन्ध होता है। अपनी आवश्यकता के अनुसार शरीर उस ऊर्जा को ग्रहण करता है और स्वस्थ बना रहता है। इस वात का अनुभव करके भी देखा जा सकता है कि वायुविकार, मंदाग्नि, अनिद्रा आदि बीमारियां पदयात्रा करने से वहुत अशों में शान्त हो जाती हैं।

सुविधावाद और आरामतलवी वर्तमान युग की देन है। एक प्रकार से इन्हें मानसिक वीमारियां माना जा सकता है। पदयात्रा इन वीमारियों का

सीधा उपचार है। इसमें लोक-शिक्षण और समाज-प्रबोधन का काम भी जितनी सुगमता से होता है, एक स्थान मे बैठने से नही हो सकता।

वर्तमान में प्रायः सभी संन्यासी पदयात्रा से विमुख होकर यान-यात्रा करने लगे है। इससे हमारी सांस्कृतिक विरासत की क्षति हो रही है। और तो क्या, कुछ जैन मुनि भी आज गतानुगतिक होकर पदयात्रा छोड़कर वाहन का प्रयोग करने लगे हैं। यह बात भगवान् महावीर के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती।

जैन मुनियों की साधना का एक विलक्षण पहलू है 'केशलोच'। ऊपर-ऊपर से देखने पर लगता है कि यह क्रूरता है। पर वास्तव में यह स्वावलम्बी और सहिष्णु जीवन का उदाहरण है। संन्यासी केश रखे और उसकी साज-सज्जा का ध्यान रखे तो वह अलंकार हो जाता है। समुचित देख-भाल के अभाव मे जो जटाजूट बढ़ता है, उसमें हिंसा की सभावना वनी रहती है। गृहस्थों की भांति कैंची या उस्तरे का प्रयोग सन्यासी को इष्ट नही है। ऐसी स्थिति में प्रतिवर्ष एक या दो बार लुंचन करके केशों को उतारना साधना, सहिष्णुता और कला का प्रतीक तो है ही, इसे एक वैज्ञानिक प्रयोग भी माना जा सकता है। जिस प्रकार क्लोरोफार्म सुंघाने के वाद की जाने वाली शल्यक्रिया में कष्ट का अनुभव नही होता है, वैसे ही भेद विज्ञान की अनुप्रेक्षा कर केश-लोच करवाया जाए तो उसमें पीड़ा का बोध काफी कम हो जाता है।

रात्रि-भोजन नही करना, सचित्त भोजन नहीं करना, सचित्त पानी नहीं पीना, नवकारसी (सूर्योदय के वाद ५० मिनट तक कुछ नहीं खाना) आदि अनेक अनुष्ठान है, जिनको रूढ़ परम्परा कहा जा सकता है। पर इन सवके पीछे वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जिसका सम्बन्ध पाचन तंत्र की सक्रियता और कीटाणुओं से वचाव के साथ है। मूल अहिंसा का लक्ष्य तो इनमे सर्वोपरि है ही। सही दृष्टि से शोध की जाए तो भगवान् महावीर द्वारा निरूपित अनेक तथ्यो के पीछे रहा उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होता है।

भगवान् महावीर ने साधना की दृष्टि से तपस्या को वहुत महत्त्व दिया। तपस्या को वे चिकित्सा मानते थे। एक ओर उन्होंने कहा—'तेगिच्छं नाभिनदेज्जा' साधु चिकित्सा को स्वीकार न करे। शरीर से काम लेना और

बीमारी होने पर उसकी चिकित्सा नहीं करवाना—इन दोनों बातो का आपस में मेल नहीं है। पर भगवान् महावीर इस बात को जानते थे कि उपवास चिकित्सा का प्रयोग करने से किसी दूसरे प्रकार की चिकित्सा की जरूरत ही नहीं रहेगी। इस दृष्टि से उन्होंने अचिकित्सा का सिद्धान्त दिया। कहा जाता है कि अमेरिका ने उपवास चिकित्सा के क्षेत्र में बारह करोड डालर खर्च किए हैं; जबकि भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले ही इस चिकित्सा का आविष्कार कर दिया था। वे स्वयं अपने जीवन में कई-कई दिनों तक उपवास कर एक रेखा खींच दी। उनके बाद कोई भी साधक इस रेखा का अतिक्रमण कर आगे नही बढ़ सका। उपवास के दिनो में वे भोजन और पानी दोनों का परिहार करते थे।

तपस्या काल में वे आसन और ध्यान के नये-नये प्रयोग करते रहते थे। आज विज्ञान कहता है कि ग्रन्थियों के स्राव और रसायन बदलने से व्यक्ति के स्वभाव और स्वास्थ्य में भी विशेष लाभ हो सकता है। किन्तु विज्ञान यह नहीं बता सका है कि अमुक ग्रन्थि को सक्रिय करने के लिए कौन-सा उपाय कारगर हो सकता है और किस प्रयोग से रसायनों में बदलाव संभव है; जबकि भगवान् महावीर ने ध्यान के प्रयोग से स्वभाव और स्वास्थ्य मे अप्रत्याशित परिवर्तन की बात कही थी।

इस प्रकार की न जाने कितनी बाते हैं, जो भगवान् महावीर को वैज्ञानिक धर्म का प्रवक्ता मानने के लिए ठोस आधार बन सकती है। उन्होने बारह वर्ष की कठोर साधना के बाद आत्मसाक्षात्कार किया। जिस व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, वह सत्य को प्रत्यक्ष देख लेता है। सत्य ही सबसे बडा विज्ञान है। सत्य को समझने या पाने के लिए उन्होंने जो-जो दृष्टियां दी, वे सव अपने आप में पूर्ण वैज्ञानिक हैं। उनके अनुयायी कहलाने वाले या उन पर रिसर्च करने वाले लोग उन दृष्टियो को समझ लें तो धर्म की वैज्ञानिकता अपने आप प्रमाणित हो सकती है।

भगवान् महावीर और निःशस्त्रीकरण

भगवान् महावीर ने एक दिन उद्घोषित किया कि अहिसा सर्वभूत क्षेमकरी है। इस वाक्य का अर्थ उस समय शायद इतना प्रबल नही था, जितना आज है। सर्वभूत विनाश के संदर्भ मे सर्वभूत क्षेमंकरी का अर्थ समझ मे आता है। वह उससे पूर्व नहीं आ सकता। आज के प्रलयकारी अणु-अस्त्रों ने हिंसा को इतनी शक्ति प्रदान की है कि वह सर्वभूत विनाशकारी है। इसमे न कोई सन्देह है और न कोई मतभेद। किन्तु इतनी शक्ति होने पर भी उससे लोग आश्वस्त नही हैं, विश्वस्त नही है। हिसा की यह सबसे बडी दुर्बलता है कि वह निश्चित आश्वासन नहीं हो सकती। इसीलिए उस पर विश्वास करने वाले भी संदिग्ध और भयभीत रहते है।

अहिंसा को हिसा जितनी शक्ति देने वाला कोई अस्त्र नहीं है। वह शुद्ध रूप में निःशस्त्र है। इसीलिए वह सर्वभूत क्षेमंकरी है, यह समझने में सदेह भी होता है और मतभेद भी। किन्तु इतना होने पर भी लोग और वे लोग जो हिसा के परिणामों को भुगत चुके होते हैं, अहिंसा से आश्वस्त है, विश्वस्त होते हैं। अहिंसा की सबसे बडी शक्ति यही है कि उसमे आश्वासन है। इसीलिए उस पर विश्वास करने वाले असंदिग्ध और अभय रहते है।

हिसा मे विश्वास करने वाले संदिग्ध क्यो रहते है ? इस प्रश्न का उत्तर महावीर ने दिया। उन्होंने कहा, 'अत्थि सत्थं परेण परं'—दूसरा अस्त्र पहले को शक्तिहीन बना देता है। प्रस्तर-युग से जो शस्त्र-विकास शुरू हुआ, वह अणु-युग तक पहुच चुका। पहला दूसरे से परास्त हो गया। इसीलिए कोई भी अस्त्रधारी यह विश्वास नही कर सकता कि शक्ति के चरम शिखर पर मै ही हूं। हिसा यह आश्वासन कभी नही दे सकती कि इस संघर्ष मे तुम्ही

बीमारी होने पर उसकी चिकित्सा नहीं करवाना—इन दोनों बातों का आपस में मेल नहीं है। पर भगवान् महावीर इस बात को जानते थे कि उपवास चिकित्सा का प्रयोग करने से किसी दूसरे प्रकार की चिकित्सा की जरूरत ही नहीं रहेगी। इस दृष्टि से उन्होंने अचिकित्सा का सिद्धान्त दिया। कहा जाता है कि अमेरिका ने उपवास चिकित्सा के क्षेत्र में बारह करोड डालर खर्च किए हैं; जबकि भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले ही इस चिकित्सा का आविष्कार कर दिया था। वे स्वयं अपने जीवन में कई-कई दिनों तक उपवास कर एक रेखा खींच दी। उनके बाद कोई भी साधक इस रेखा का अतिक्रमण कर आगे नहीं बढ़ सका। उपवास के दिनों में वे भोजन और पानी दोनों का परिहार करते थे।

तपस्या काल में वे आसन और ध्यान के नये-नये प्रयोग करते रहते थे। आज विज्ञान कहता है कि ग्रन्थियो के स्राव और रसायन बदलने से व्यक्ति के स्वभाव और स्वास्थ्य में भी विशेष लाभ हो सकता है। किन्तु विज्ञान यह नहीं बता सका है कि अमुक ग्रन्थि को सक्रिय करने के लिए कौन-सा उपाय कारगर हो सकता है और किस प्रयोग से रसायनों मे बदलाव संभव है; जबकि भगवान् महावीर ने ध्यान के प्रयोग से स्वभाव और स्वास्थ्य में अप्रत्याशित परिवर्तन की बात कही थी।

इस प्रकार की न जाने कितनी बाते है, जो भगवान् महावीर को वैज्ञानिक धर्म का प्रवक्ता मानने के लिए ठोस आधार बन सकती है। उन्होने बारह वर्ष की कठोर साधना के बाद आत्मसाक्षात्कार किया। जिस व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, वह सत्य को प्रत्यक्ष देख लेता है। सत्य ही सबसे बड़ा विज्ञान है। सत्य को समझने या पाने के लिए उन्होंने जो-जो दृष्टियां दीं, वे सब अपने आप में पूर्ण वैज्ञानिक हैं। उनके अनुयायी कहलाने वाले या उन पर रिसर्च करने वाले लोग उन दृष्टियों को समझ लें तो धर्म की वैज्ञानिकता अपने आप प्रमाणित हो सकती है।

भगवान् महावीर और निःशस्त्रीकरण

भगवान् महावीर ने एक दिन उद्घोषित किया कि अहिंसा सर्वभूत क्षेमकरी है। इस वाक्य का अर्थ उस समय शायद इतना प्रबल नहीं था, जितना आज है। सर्वभूत विनाश के संदर्भ मे सर्वभूत क्षेमंकरी का अर्थ समझ में आता है। वह उससे पूर्व नहीं आ सकता। आज के प्रलयकारी अणु-अस्त्रों ने हिंसा को इतनी शक्ति प्रदान की है कि वह सर्वभूत विनाशकारी है। इसमे न कोई सन्देह है और न कोई मतभेद। किन्तु इतनी शक्ति होने पर भी उससे लोग आश्वस्त नही है, विश्वस्त नहीं है। हिसा की यह सबसे वडी दुर्बलता है कि वह निश्चित आश्वासन नहीं हो सकती। इसीलिए उस पर विश्वास करने वाले भी संदिग्ध और भयभीत रहते है।

अहिसा को हिंसा जितनी शक्ति देने वाला कोई अस्त्र नहीं है। वह शुद्ध रूप में निःशस्त्र है। इसीलिए वह सर्वभूत क्षेमंकरी है, यह समझने मे संदेह भी होता है और मतभेद भी। किन्तु इतना होने पर भी लोग और वे लोग जो हिंसा के परिणामों को भुगत चुके होते हैं, अहिंसा से आश्वस्त हैं, विश्वस्त होते है। अहिंसा की सबसे बडी शक्ति यही है कि उसमे आश्वासन है। इसीलिए उस पर विश्वास करने वाले असंदिग्ध और अभय रहते हैं।

हिसा मे विश्वास करने वाले सदिग्ध क्यों रहते है ? इस प्रश्न का उत्तर महावीर ने दिया। उन्होंने कहा, 'अत्थि सत्थं परेण परं'—दूसरा अस्त्र पहले को शक्तिहीन बना देता है। प्रस्तर-युग से जो शस्त्र-विकास शुरू हुआ, वह अणु-युग तक पहुच चुका। पहला दूसरे से परास्त हो गया। इसीलिए कोई भी अस्त्रधारी यह विश्वास नहीं कर सकता कि शक्ति के चरम शिखर पर मैं ही हूं। हिसा यह आश्वासन कभी नहीं दे सकती कि इस संघर्ष में तुम्हीं

बचोगे और अन्तिम जीत तुम्हारी ही होगी।

अहिंसा में विश्वास करने वाले अभय क्यों होते हैं ? महावीर ने इस प्रश्न का भी स्पर्श किया। उन्होंने बताया—'नत्थि असत्थं परेण परं'—दूसरा अशस्त्र पहले अशस्त्र को शक्ति देता है। अहिंसा पहली अहिसा को परास्त नहीं करती। अहिंसा के जगत् में इस चिन्तन की कोई भाषा ही नहीं होती कि मैं ही रहूं, मैं ही बचूं या अन्तिम जीत मेरी ही हो। वहां की भाषा यही होती है—अपने अस्तित्व में सब हों और सबके अस्तित्व का विकास हो।

आज हिन्दुस्तान राष्ट्रीय संकट की स्थिति में से गुजर रहा है। इसीलिए उसकी चिन्तनधारा कुछ दूसरी हो चली है। अशस्त्र बल से उसे कुछ चोट लगी है इसलिए वह शस्त्र-बल की ओर त्वरित-गति से झुक रहा है। पर इसे स्थिति की विवशता ही कहा जाएगा। यह तो नहीं कहा जा सकेगा कि वह कोई आश्वासन का मार्ग है।

यदि शस्त्र-बल आश्वासन दे पाता और वह मनुष्य-जाति के लिए बहुत कल्याणकारी होता तो निःशस्त्रीकरण की चर्चा क्यों चलती ? निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को किसी एक राष्ट्र के सामने रखकर नहीं सोचना चाहिए। वह समूची मनुष्य-जाति का प्रश्न है और इसी प्रश्न पर आज समूची मुनष्य-जाति का भविष्य आधारित है।

जब तक जाति, वर्ण, भाषा और राष्ट्रीयता का कृत्रिम या काल्पनिक भेद रहेगा, तब तक संघर्ष का उन्माद भी सम्भव है, रहे। पर वह नियन्त्रणहीन न हो, यह स्वयं मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। आज मनुष्य के सामने जय-पराजय का प्रश्न नहीं है, अस्तित्व का प्रश्न है। उसने अपने ही हाथों अपने अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर लिया है। क्या इस स्थिति में अहिंसा का इतना विकास जरूरी नहीं है कि जिससे अस्तित्व का संकट कट जाए ?

महावीर ने कहा था—शस्त्र तलवार नहीं है, मनुष्य भी शस्त्र है, और सही अर्थ में मनुष्य ही शस्त्र है और वह हर प्राणी शस्त्र है, जो दूसरे के अस्तित्व पर प्रहार करता है। हम पूर्ण निःशस्त्रीकरण की वात उस भूमिका पर पहुंचने के बाद कह सकते हैं, जव कि किसी के भी अस्तित्व पर प्रहार न करें। मनुष्य एक पशु पर प्रहार करता है, एक पक्षी पर प्रहार करता है और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर प्रहार करता है। प्रहार करना एक ऐसा

स्वभाव बन गया है कि वह किसी पर भी प्रहार कर सकता है। इस स्वभाव का नियमन ही महावीर का अहिंसा-धर्म है। महावीर ने कहा—तुम स्वयं शस्त्र हो, भले फिर तुम्हारे पास शस्त्र हो या न हो। तुम स्वयं निःशस्त्र बनो, भले फिर तुम्हारे पास शस्त्र हो या न हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शस्त्र का जितना आतंक होगा उतनी ही निःशस्त्रीकरण की चर्चा होगी। पर शस्त्रीकरण के मूल हेतु को मिटाए बिना वह सफल नहीं होगी। महावीर ने कहा—मनुष्य दो स्थितियों में दूसरे के अस्तित्व पर प्रहार करता है। उनमें पहली है अनिवार्यता और दूसरी है विस्तार की आकांक्षा। आक्रमण का मूल यही विस्तार की आकाक्षा है। इस पर नियंत्रण करने के लिए महावीर ने दिशा-संयम का उपदेश दिया था। उन्होंने कहा—मनुष्य अप्राप्त ऐश्वर्य के उत्पाद और प्राप्त ऐश्वर्य के संरक्षण के लिए विस्तारवादी नीति अपनाता है। अधिकार और ऐश्वर्य के प्रति आकर्षण है तब तक कोई उसे त्याग नहीं सकता। इसीलिए यह युद्ध और आक्रमण की परम्परा बराबर चल रही है। महावीर ने कहा—तुम दिशाओ का संयम करो। दूसरों का शोषण करने के लिए, दूसरों पर अधिकार करने के लिए, दूसरों के भोग तथा सुख में हस्तक्षेप करने के लिए कहीं न जाओ। अध्यात्म का विकास हो, सारी दुनिया मे हो तो कही यह दिशा-संयम की बात बन सकती है। यह असम्भव नहीं कि अध्यात्म का विकास न हो और सारी दुनिया में न हो। हमारा सामूहिक प्रयत्न हो तो यह सब हो सकता है। हम अपनी आस्था को प्रबल बनाएं। महावीर की महान् चेतना के आलोक में देखें कि हमारे मन के किसी कोने में कोई कायरता तो नहीं छिपी बैठी है ?

महावीर के शासन-सूत्र

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। तीर्थ उनकी तपोभूमि था और उनकी तपोभूमि से तीर्थ का उद्भव हुआ था। भगवान् ने तीर्थ की स्थापना ही नही की, उसके आधार भी दिए। वे आधार किसी भी समाज के आधार बन सकते हैं। भगवान् ने तीर्थ के आठ आधार बताये :

१. निश्शंकित।
२. निश्कांक्षित।
३. निर्विचिकित्सा।
४. अमूढ़दृष्टि।
५. उपबृंहण।
६. स्थिरीकरण।
७. वात्सल्य।
८. प्रभावना।

पहला आधार आस्था या अभय है। एकसूत्रता का मूल बीज आस्था है। स्वसम्मत लक्ष्य के प्रति आस्थावान हुए बिना कोई भी प्रगति नही कर सकता। लक्ष्य के साथ तादात्म्य हो, यह सगठन की पहली अपेक्षा है। अभय भी ऐसी ही अनिवार्य अपेक्षा है। मन में भय हो तो लक्ष्य को पकडा ही नही जा सकता और पूर्व-गृहीत हो तो उस पर टिका नहीं जा सकता। भगवान् महावीर की दृष्टि मे सब दोषों का मूल है हिंसा और हिसा का मूल है भय। कोई व्यक्ति अभय होकर ही अपने लक्ष्य की ओर स्वतन्त्र गति से चल सकता है।

संगठन का दूसरा आधार है लक्ष्य के प्रति दृढ़ अनुराग या वैचारिक स्थिरता। जगत् मे अनेक संगठन और उसके भिन्न-भिन्न लक्ष्य होते हैं। स्व-सम्मत लक्ष्य के प्रति दृढ़ अनुराग न हो तो मन कभी किसी को पकड़ना चाहता है और कभी किसी को। विचारों में एक अंधड-सा चलता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति और संगठन दोनों ही स्वस्थ नही बन सकते।

तीसरा आधार है स्वीकृत साधनों की सफलता में विश्वास। हर संगठन का अपना साध्य होता है और अपने साधन होते हैं। किसी भी साधन से तब तक साध्य नहीं सधता जब तक साधक को उसकी सफलता में विश्वास न हो। इस साधन से अमुक साध्य की सिद्धि निश्चित होगी—ऐसा माने बिना संगठन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

संगठन का चौथा आधार है अमूढ़दृष्टि। दूसरे के विचारों के प्रति हमारी सद्भावना हो, यह सही है पर यह सही नहीं कि अपनी नीति के विरोधी विचारों के प्रति हमारी सहमति हो। यदि ऐसा हो तो हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध नहीं रह सकता और हमारे संगठन के कार्य-प्रणाली का कोई स्वतन्त्र रूप भी नहीं रह सकता। संगठन के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि उसका अनुयायी विनम्र हो पर 'सब समान हैं' इस अविवेक का समर्थक न हो।

पांचवां आधार है उपबृंहण। संगठन की आत्मा है—गुण या विशेषता। गुण और अवगुण, ये दोनों मनुष्य के सहचारी हैं। गुण की वृद्धि और अवगुण का शोधन करना संगठन के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। पर इसमें बहुत सतर्कता बरती जानी चाहिए। अवगुण का प्रतिकार होना चाहिए। पर उसे प्रसारित कर संगठन के सामने जटिलता पैदा नहीं करनी चाहिए। गुण का विकास करना चाहिए पर उसके प्रति ईर्ष्या या उन्माद न हो ऐसी सजगता रहनी चाहिए। इसी सूत्र के आधार पर यह विचार विकसित हुआ था कि 'जो एक साधु की पूजा करता है, वह सब साधुओं की पूजा करता है यानी साधुता की पूजा करता है। जो एक साधु की अवहेलना करता है, वह सब साधुओं की अवहेलना करता है यानी साधुता की अवहेलना करता है।

संगठन का छठा आधार है स्थिरीकरण। अनेक लोगो का एक लक्ष्य के प्रति आकृष्ट होना भी कठिन है और उससे भी कठिन है उस पर टिके रहना। आन्तरिक और बाहरी ऐसे दबाव होते हैं कि आदमी दब जाता है।

शारीरिक और मानसिक ऐसी परिस्थितियां होती हैं कि आदमी पराजित हो जाता है। तब वह लक्ष्य को छोड़ दूर भागना चाहता है। उस समय उसे लक्ष्य में फिर से स्थिर करना संगठन के लिए वहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

स्थिरीकरण के हेतु अनेक हो सकते हैं। इनमें सबसे बडा हेतु है वात्सल्य। और यही सातवां आधार है। सेवा और संविभाग इसी सूत्र पर विकसित हुए हैं। भगवान् ने कहा—असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता। जो संविभाग को नहीं जानता है, वह अपने-आपको अनगिन बन्धनों से जकड लेता है, फिर मुक्ति की कल्पना ही कहां ? इस सूत्र के आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यों ने भगवान् के मुंह से कहलाया कि जो रोगी साधु की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है और एकात्मकता की भाषा में गाया गया—

"भिन्न-भिन्न देश में उत्पन्न हुए, भिन्न-भिन्न आहार से शरीर बढा किन्तु जैसे ही वे जिन-शासन में आए वैसे ही सव भाई हो गए।" यह भाईचारा सेवाभाव ही संगठन की सुदृढ़ आधारशिला है।

आठवां आधार है प्रभावना। वही संगठन टिक सकता है जो प्रभावशाली होता है। लक्ष्यपूर्ति के साधनों को प्रभावशाली बनाये रखे बिना उनकी ओर किसी का झुकाव ही नहीं होता। दूसरों के मन को भावित करने की क्षमता रखने वाले ही संगठन को प्रभावशाली बना सकते हैं। विद्या, कला-कौशल, वक्तृत्व आदि शक्तियों का विकास और पराक्रम सहज ही जन-मानस को प्रभावित कर देता है। संगठन के लिए ऐसे पारगामी व्यक्ति भी सदा अपेक्षित होते है।

संगठन के लिए जो आठ आधार भगवान् ने बनाए, उनमें से पहले चार वैयक्तिक हैं। कोई भी व्यक्ति उनसे अपनी आत्मा की सहायता करता है और साथ-साथ संघ को भी लाभान्वित करता है। अन्तिम चार से व्यक्ति दूसरों की सहायता कर संघ को शक्तिशाली बनाता है।

धर्म की यात्रा : जैन धर्म का स्वरूप

मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है शान्ति से जीने की चाह। शान्ति की आकांक्षा तब तक फलित नही होती, जब तक जीवन में पवित्रता न हो। पवित्रता के बिना शान्ति मिलती नहीं। कदाचित् मिल जाए तो टिकती नहीं। शान्ति और पवित्रता को उपलब्ध कराने का जो साधन है, वह धर्म है। धर्म शब्द अनेक अर्थो का वाचक है। वे सब अर्थ यहां प्रासंगिक नहीं हैं। किसी को धर्म शब्द से आपत्ति हो तो उसका भी कोई व्यामोह नही है। मूलतः हमें अभीष्ट है शान्ति और पवित्रता। वह जिस प्रक्रिया से प्राप्त हो, उसका जीवन में समावेश होना जरूरी है।

धर्म क्या ?

यदि उस प्रक्रिया की पहचान धर्म शब्द से की जाती है तो एक प्रश्न उठता है—कौन-सा धर्म ? मेरे अभिमत से यह प्रश्न ही गलत है। धर्म मे कोई विभाजन नही होता। वह एक और अखण्ड सत्य है। वह एक मार्ग है। उस मार्ग को दिखाने वाले व्यक्तियों के कारण उसमें अन्तर आ जाता है। मार्ग-दर्शक अगर सही हैं तो वे सही रास्ता बताएंगे। ऐसा रास्ता, जो व्यक्ति को मजिल तक पहुंचा देता है। मार्गदर्शक सही नही है तो पथ या धर्म भी सही नहीं हो सकता।

मार्गदर्शक कौन ?

धर्म का रास्ता वताने वाले होते हैं 'अर्हत्'। वे विशिष्ट अर्हता—योग्यता से सम्पन्न होते है। वे परिपूर्ण ज्ञानी होते है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहलाते

हैं। सर्वज्ञ वही हो सकता है जो निर्भीक हो। निर्मोह व्यक्ति राग-द्वेष का विजेता होता है। वह वीतराग कहलाता है। वह आत्म-विजेता होता है इसलिए जिन भी कहलाता है। जिन, अर्हत् या तीर्थकर संसार को धर्म का रास्ता दिखाते हैं।

धार्मिक की विचार-यात्रा

धर्म के दो रूप हैं—विचार-प्रधान और आचार-प्रधान। विचार-शुद्धि धर्म का मूल आधार है। विचार-शुद्धि के बिना आचार-शुद्धि की बात मूल के बिना फल-फूल पाने की बात है। इस दृष्टि से आचरण के क्षेत्र में पदन्यास करने से पहले विचार-शुद्धि की ओर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है।

'मैं हूं'—यह अस्तित्व-बोध विचार-यात्रा का प्रथम चरण है। मै हू वैसे ही दूसरे भी है। इस प्रकार अपने अस्तित्व के साथ दूसरों के अस्तित्व पर सहमति की मोहर लगाना विचार-यात्रा का दूसरा चरण है। मै रहना चाहता हूं, इसी प्रकार दूसरे प्राणी भी रहना चाहते हैं। मुझे दुःख इष्ट नहीं है तो दूसरो को दुःख इष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरों को मारने वाला, उत्पीड़न देने वाला मैं कौन होता हूं, यह चिन्तन अहिंसा को सत्ता पर लाकर बिठा देता है।

अनेकान्त

मैं हूं—यह व्यक्ति के अस्तित्व की स्वीकृति है। अगला प्रश्न है—मैं कैसा हूं ? इस प्रश्न के समाधान में व्यक्ति, देश, काल और भाव को आधार मानना होगा। व्यक्ति की दृष्टि से मैं मनुष्य हूं। क्षेत्र की दृष्टि से मे हिन्दुस्तानी हूं। काल की दृष्टि से मैं बीसवीं शताब्दी मे हूं। भाव की अपेक्षा मै अमुक-अमुक प्रकार की अवस्थाओं से बंधा हुआ हूं। इस विश्लेपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक अपेक्षा से मै हूं किन्तु दूसरी अपेक्षा से मैं नहीं हूं। होना और न होना एक साथ घटित होता है, यह सापेक्ष दृष्टि है, अनेकान्त दृष्टि है, स्याद्वाद है, रिलेटिविटी है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव वस्तु या व्यक्ति की एकता के नहीं, अनेकता के प्रतीक हैं। इसका सारांश यह है कि व्यक्ति किसी दृष्टि से शाश्वत है, किसी दृष्टि से अशाश्वत है। वह किसी एक अपेक्षा से समान है, दूसरी अपेक्षा से असमान भी है। चिन्तन की कोई धारा उसे वाच्य मानती है और

कोई धारा अवाच्य मानती है। यही अनेकान्त है। अनेकान्त की दृष्टि हमें तीर्थकरों से मिली है।

अपरिग्रह

व्यक्ति जब तक शान्ति और पवित्रता का उपाय नहीं खोज पाता है, उसका चित्त अपवित्र रहता है। अपवित्र भावधारा संग्रह बढ़ाने की प्रेरणा देती है। सग्रह जितना बढ़ेगा, अपवित्रता उतनी ही अधिक होगी। जीवन की पवित्रता के लिए अपरिग्रह के सिद्धान्त को समझना जरूरी है। अपरिग्रह और अहिसा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां परिग्रह है, वहां हिंसा है। जहां अपरिग्रह है, वहां अहिसा है। इस दृष्टि से एक घोष बन सकता है—'अपरिग्रहः परमो धर्मः' परिग्रह, चोरी, भोग-संभोग आदि सब अधर्म हैं, इसलिए त्याज्य हैं। वैचारिक दृष्टि से यह धर्म का स्वरूप है। इस समग्र विचार-यात्रा को संक्षेप में समेटा जाए तो इसके निष्कर्ष ये हैं—

- अपने अस्तित्व के साथ दूसरो के अस्तित्व को स्वीकार करना—यह अनेकान्त है।
- शान्ति के लिए जिस साधन की अपेक्षा रहती है, वह अहिंसा है।
- पवित्रता के लिए जिस मार्ग पर चलना होगा, वह अपरिग्रह है।

सृष्टिवाद

जैन दृष्टि में सृष्टि का क्या स्वरूप है ? यह एक प्रश्न है। 'यः पिण्डे सः ब्रह्माण्डे'—जो पिण्ड में है, व्यक्ति में है, वही ब्रह्माण्ड में है, संसार में है। व्यक्ति को संसार से अलग नही किया जा सकता। ऐसा कोई समय नही था, जब सृष्टि नही थी। भविष्य मे भी कोई ऐसा समय नहीं आएगा, जब सृष्टि नही रहेगी। ऐसा भी कोई क्षण उपस्थित नही होगा, जब संसार ज्यो-का-त्यों रहेगा। संसार के हर पदार्थ में प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश होता रहता है। फिर भी वह पदार्थ किसी-न-किसी रूप मे स्थिर रहता है। जैन दर्शन के अनुसार ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो सृष्टि की रचना या विनाश करती रहती है। संसारी जीव को जिस सुख या दुःख का भोग करना होता है, उसका कर्त्ता वह स्वयं है।

संसार में दो चीजे है—जीव और पुद्गल। जीव चेतन है, पुद्गल जड़

है। जड़ और चेतन के मेल से अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। जीव जब तक कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करता है, संसार में परिभ्रमण करता रहता है। परिभ्रमण के लिए पूरा लोकाकाश सामने है। काल का वर्तन क्षण-क्षण होता है। जीव, पुद्गल, आकाश और काल—ये चारों हमारे प्रत्यक्ष है। दो तत्त्व और हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय गतिसहायक तत्त्व है। अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक है। जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति इन्हीं के आधार पर होती है। अलोकाकाश में ये दोनों नहीं हैं। इसीलिए वहां जीव और पुद्गल का अस्तित्व नहीं है। यह सृष्टि का स्वरूप है।

निर्वाणवाद

जन्म और मृत्यु की धारा बहती रहती है। इसका कहीं ओर-छोर भी दिखाई नहीं देता। ऐसा कौन-सा उपाय है, जो इस धारा को सुखा दे ? तीर्थकरो ने धर्म का रास्ता दिखाया है। जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाकर ही व्यक्ति स्थायी शान्ति का अनुभव कर सकता है। इस स्थिति में आत्मा परमात्मा बन जाती है। परमात्मा बनने के बाद वह लौटकर कभी संसार में नहीं आती। आत्मा के परमात्मा बनने में संदेह को कोई अवकाश नही है। जब वह महात्मा बन सकती है तो परमात्मा क्यो नही बन सकती ? यह क्रमिक विकास का आखिरी सोपान है। नौ तत्त्वों का बोध बन्धन को समझने और तोडने के लिए ही तो अपेक्षित है। उसके अनुसार जीव की यात्रा परमात्मा बनने या मोक्ष पाने में ही पूरी होती है। नौ तत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

जीव—सचेतन प्राणी।
अजीव—अचेतन प्राणी।
पुण्य—शुभ कर्मो का भोग।
पाप—अशुभ कर्मो का भोग
आश्रव—कर्मों को ग्रहण करने वाली आत्मपरिणति।
संवर—कर्मो का निरोध।
निर्जरा—कर्मो को तोड़कर अलग करने से होने वाली उज्ज्वलता।
वन्ध—कर्मो का आत्मा के साथ एकीभाव।
मोक्ष—सव कर्मो से मुक्त होकर आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति

आचार का मूल्य

जैन धर्म के अनुसार कोई भी विचार तभी मूल्यवान बनता है, जब वह व्यक्ति के आचरण में उतर जाए। आचार के बिना विचार कल्पना या स्वप्न वनकर रह जाता है। मोक्ष या निर्वाण तक वही व्यक्ति पहुंच सकता है, जो आचार का पालन करता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप—इन चारों का समन्वित रूप ही मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए पांच महाव्रतों का पालन करना होता है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच महाव्रत हैं। जो लोग अपने आचार को इतना प्रशस्त नहीं बना सकते, उनके लिए पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह व्रतो का विधान है—

अहिंसा अणुव्रत	उपभोग-परिभोग परिमाण
सत्य अणुव्रत	अनर्थ दण्ड विरति
अस्तेय अणुव्रत	सामायिक
ब्रह्मचर्य अणुव्रत	देशावकाशिक
अपरिग्रह अणुव्रत	पौषधोपवास
दिशा परिमाण	अतिथि-संविभाग

आचरण की शक्यता के आधार पर महाव्रत और अणुव्रत—ये दो विभाग किए गए हैं। इनका पालन करने वाले व्यक्ति क्रमशः साधु और श्रावक कहलाते है।

आचार के क्षेत्र में लिंग, रग, जाति आदि का कोई भेदभाव नहीं है। जैन धर्म के अनुसार जातिवाद अतात्त्विक है। छुआछूत का दृष्टिकोण अमानवीय है। एक पुरुष को साधना का जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार स्त्री को है। यहां तपस्या का महत्त्व है, पर केवल शरीर को सुखाने या समाप्त करने वाले अज्ञान कष्ट को कोई स्थान नही है।

मृत्यु की कला

सभी धर्म व्यक्ति को शान्ति और सुख से जीने की कला सिखाते है। जैन धर्म यह कला तो सिखाता ही है, साथ-साथ शान्ति से मरने की कला भी सिखाता है। उस कला का नाम है—समाधिमरण, संलेखना या अनशन।

जीना इष्ट है, मृत्यु भी इष्ट है। जीना अनिष्ट है, मृत्यु भी अनिष्ट है। इस कथन को यों समझा जा सकता है कि संयम से जीना और समाधि से मरना इष्ट है। असंयम से जीना और असमाधि से मरना अनिष्ट है।

संलेखना या अनशन कब करना चाहिए ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। शास्त्रों में बताया गया है कि जब तक नये-नये गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दें। जब भोजन से अरुचि हो जाए, खाना हजम न हो और भीतर की मांग समाप्त हो जाए, तब व्यक्ति विचारपूर्वक शरीर को छोड़ दे। यह ऐसा साहसिक कदम है जिसमें धृति, अनासक्ति और विवेक का होना अत्यन्त आवश्यक है।

अनशन और आत्महत्या एक नहीं है। आत्महत्या पलायन है, अनशन मोर्चा संभालना है। आत्महत्या विवशता है, अनशन विवेकपूर्वक उठाया गया कदम है। आत्महत्या में आवेश, भय, असफलता, मोह आदि ऐसे तत्त्वों का समावेश रहता है, जो विवेक पर पर्दा डालने वाले हैं। अनशन एक सुचिन्तित प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति जीवन की आकांक्षा और मृत्यु के भय से मुक्त होकर आत्मस्थ बन जाता है। अनशन एक साधना है, समाधि का प्रयोग है। इसे आत्महत्या के साथ जोड़ना बहुत बड़ी भूल है।

धर्म सबके लिए होता है

जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर होते हैं। वे साधना करते है। साधना के द्वारा केवलज्ञान उपलब्ध करते हैं। ज्ञान प्राप्त होते ही वे धर्म का उपदेश करते हैं। उनके उपदेश का प्रभाव होता है और चार तीर्थ की स्थापना हो जाती है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार तीर्थ की परम्परा धर्मसंघ के रूप में आगे बढ़ती है। तीर्थंकरों की अनुपस्थिति में इस परम्परा के संवाहक आचार्य होते हैं। लोकजीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने के लिए धर्म का उपदेश दिया जाता है। धर्म की वात सुनने और उस पर अमल करने का अधिकार सबको है। धर्म किसी की बपौती नहीं होती। वह सार्वभौम और सार्वजनीन सत्य है। जब तक मनुष्य को धर्म का आलोक मिलेगा, वह शान्ति और पवित्रता के पथ पर अग्रसर होता रहेगा।

जैन धर्म : पहचान के कुछ घटक

धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जो जीवन देता है। वह व्यक्ति को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। असत् से सत् की ओर ले जाता है। मृत्यु से अमरता की ओर ले जाता है। वह ऊर्जा का अखण्ड स्रोत है। उसे बांटा नही जा सकता। वह निर्विशेषण सत्य है। उसके साथ किसी विशेषण का औचित्य है तो वह है मानवधर्म। फिर भी उसके साथ कुछ विशेषण जुडे हुए है, जैसे जैन धर्म, बौद्ध धर्म, वैदिक धर्म आदि। यह एक प्रकार का व्यवहार है। इससे विचारों की परम्परा आगे बढ़ती है। व्यवहार के धरातल पर जीने वाला व्यक्ति व्यवहार सत्य की उपेक्षा नही कर सकता। इसी दृष्टि से संसार मे अनेक धर्मो का अस्तित्व है।

आदर्श/मंजिल

जैन धर्म महान् धर्म है। वह जन-जन का धर्म है इसलिए जनधर्म है। जैन धर्म के आदर्श हैं जिनेन्द्र। आदर्श का अर्थ है लक्ष्य या मंजिल। व्यक्ति जहां पहुचना चाहता है, जो पाना चाहता है, वही उसकी मंजिल होती है। एक जैन व्यक्ति का सर्वोच्च ध्येय होता है—आत्मा से परमात्मा बनना ईश्वर या परमेश्वर बनना। जैन परिभाषा मे इसे अर्हत्, वीतराग या आप्तपुरुष कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह अर्हत् बन सकता है। बनना और न बनना उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है। जो व्यक्ति जितना पुरुषार्थ करता है, उतना पहुच सकता है।

उपासना

जैन धर्म किसी व्यक्ति का उपासक नहीं है। न तो इसका आदर्श कोई व्यक्ति है और न इसके महामंत्र में किसी व्यक्ति विशेष का उल्लेख है। यह शुद्ध आत्मा की उपासना में विश्वास रखता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र की उपासना में इसका विश्वास है। उपासना का सम्वन्ध पूजा-पाठ से नहीं है। आत्मशुद्धि के लिए क्रियाकाडों की कोई अपेक्षा नहीं है। अज्ञान कष्ट भी साधना का अंग नहीं है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के अतिरिक्त किसी प्रकार की आराधना इसे मान्य नहीं है। व्यक्ति स्वयं सम्यक्ज्ञानी, सम्यक्-दर्शनी और सम्यक्चारित्री बने, यही इसकी उपासना है।

सिद्धान्त

जैन धर्म का सिद्धान्त है स्याद्वाद। इसे सापेक्षवाद या समन्वयवाद भी कहा जाता है। किसी मत विशेष का आग्रह इसे मान्य नहीं है। इसके लिए वे सभी विचार सत्य हैं, जो सापेक्ष हैं। वे सभी विचार व्यर्थ हैं, जो निरपेक्ष हैं। यह एक वस्तु में अनन्त विरोधी धर्मो की सत्ता स्वीकार करता है। इसके अभिमत से कोई एक वस्तु एकान्ततः शाश्वत या अशाश्वत, सामान्य या विशेष नहीं हो सकती। ये सभी धर्म अपेक्षाभेद से वस्तु के साथ जुडते हैं।

सृष्टि का स्वरूप

जैन धर्म के अनुसार यह सृष्टि ईश्वर या किसी अदृश्य शक्ति की रचना नहीं है। एक अपेक्षा से यह शाश्वत है। शाश्वत का अर्थ है—यह थी, है और रहेगी। दूसरी अपेक्षा से सृष्टि परिवर्तनशील है। इसमें परिवर्तन हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा। स्वरूप की दृष्टि से इसका प्रारंभ या विनाश करने वाला कोई नहीं है। इसलिए किसी ईश्वर या परमेश्वर पर इसकी जिम्मेवारी नहीं है।

कर्तृत्व

जैन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि सुख और दुःख का कर्ता

व्यक्ति स्वयं है। 'करै सो भरै', 'कर्ता सो भोक्ता' आदि कहावते इसी तथ्य को पुष्ट करती हैं। सुख-दुःख में निमित्त कोई भी बन सकता है, पर उसका मूल कारण 'उपादान' व्यक्ति के भीतर होता है। व्यक्ति किसी के लिए सुख और दुःख की परिस्थितियां पैदा कर सकता है पर वह किसी को सुखी और दुःखी बना नहीं सकता। क्योंकि व्यक्ति सुखी या दुःखी बना है अपने संवेदन से। इसलिए अपने सुख-दुःख का जिम्मेवार वह स्वयं है।

उत्पाद और विनाश का आधार

जैन धर्म के अनुसार इस संसार में नया कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, वह सदा से है। जीव भी सदा से है और अजीव भी सदा से है। न तो कोई नई पैदावार होती है और न कोई समूल विनाश होता है। जीव और अजीव—दोनों के साथ उत्पाद एवं विनाश जुडे हुए है। उत्पाद और विनाश से रहित किसी स्थिर वस्तु की कल्पना 'आकाश-कुसुम' से अधिक कुछ नहीं है। इसी प्रकार ध्रुव तत्त्व के बिना उत्पाद एवं विनाश भी निराधार हो जाते है। इस दृष्टि से संसार मे जितने अस्तित्ववान् पदार्थ है, उन सबमें उत्पाद, विनाश एवं ध्रौव्य का योग रहता है। परमाणु से लेकर आत्मा और आकाश तक कोई भी पदार्थ इस त्रिपदी की परिधि से बाहर नहीं रह सकता।

मानवीय दृष्टि

जैन धर्म मे जाति के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा नहीं माना जाता। इसके अनुसार जाति कोई मूल्यवान तत्त्व नही है। यदि जाति को मूल्य देना ही हो तो एक मनुष्य जाति हो सकती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जातियां कल्पित है। इनका आधार है व्यवसाय। व्यवसाय के आधार पर बनने वाली जातियां बनती-मिटती रहती है। इसलिए इन्हे जाति के स्थान पर वर्ग कहना अधिक उपयुक्त है। जब जातिवाद अतात्त्विक है तो उसके आधार पर उच्चता-हीनता, स्पृश्यता-अस्पृश्यता एवं सम्मान-अपमान की कल्पना मूढ़ता है।

जीवन-मृत्यु

जैन धर्म में जीने का अतिरिक्त महत्त्व नहीं है और मृत्यु निरर्थक नहीं है। जीना एक कला है तो मरना भी कला है। कोई व्यक्ति आवेशवश मृत्यु का वरण करता है, वह यहां मान्य नहीं है। प्रतिक्रियाशून्य क्रिया, फिर चाहे वह जीना हो या मरना, एक आदर्श क्रिया है। व्यक्ति की हर क्रिया में कला की पुट हो, यह जरूरी है। कला का सम्बन्ध संयम और समाधि के साथ है।

धर्म का उद्देश्य

जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। अन्धविश्वासों और रूढ़ियों मे इसकी कोई अभिरुचि नहीं है। यह एक व्यापक दृष्टिकोण है। इसे किसी वर्ग या कौम विशेष में बांधकर नहीं रखा जा सकता। किसी प्रलोभन या भय के कारण धर्म की आराधना प्रशस्त दृष्टिकोण नहीं है। धर्म का काम है व्यक्ति को विशुद्धि या विकास के मार्ग पर अग्रसर कर मंजिल तक पहुंचा देना, आत्मा को परमात्मा बना देना।

जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्त, जिनका संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया है और अधिक संक्षेप में बताये जाएं तो उनकी पूरी भावना संस्कृत के एक श्लोक में समा जाती है। वह श्लोक इस प्रकार है :

आदर्शोऽत्र जिनेन्द्र आप्तपुरुषः रत्नत्रयाराधना,
स्याद्वादः समयः समन्वयमयः सृष्टिर्मता शाश्वती,
कर्तृत्वं सुखदुःखयोः स्वनिहितं ध्रौव्यं व्ययोत्पत्तिमत्,
एका मानवजातिरित्युपगमोऽसौ जैनधर्मो महान्।।

सत्य की जिज्ञासा

धर्म को मै जैन या अजैन नहीं मानता। वह सत्य है, अखण्ड सत्य। वह शब्द से अतीत है और विशेषण से भी अतीत है। वह आत्मा की पवित्रता का संस्करण है, जो सबके लिए समान रूप से सम्भव है।

जैन शासन को मै मानता हूँ। हम धर्म पद्धति से शासित हैं और उस पद्धति से शासित हैं, जिसका निर्माण जिन-तीर्थकर ने किया था।

जैन लोग जिस पद्धति से शासित है, उसके मूल तत्त्व से अपरिचित है। इसीलिए वे मूल से विच्छिन्न रहकर शाखा का पल्लवन करना चाहते है। यह कोई कैसे चाहेगा कि वृक्ष शाखा-विहीन हो। समझदार मनुष्य चाहेगा कि वृक्ष शत-शाखी हो। पर साथ-साथ यह भी चाहेगा कि वे सब शाखाएं मूल से विच्छिन्न न हो, उनका मूल से विच्छिन्न होकर प्राण-पौष पाने का प्रयत्न न हो।

जैन-शासन अनेक शाखा-सम्पन्न है। शाखाओं का अस्तित्व विचार-प्रवणता का सूचक है। पर भ्रान्ति जो आयी है, वह यह है कि शाखा शाखा नही, वह मूल है।

जैन तत्त्व-विद्या ने एकता और अनेकता के सामजस्य का बहुत सुन्दर रूप दिया है। अपर्यय या विस्तार-शून्य तत्त्व एक होता है और पर्याय या विस्तारयुक्त तत्त्व अनेक होता है। एकता मे अनेकता अन्तर्हित है किन्तु वियुक्त नहीं है और अनेकता में एकता अन्तर्हित है किन्तु वियुक्त नहीं है। इस सिद्धान्त-सूत्र को समझकर चला जाए तो क्वचित् एकता भी वाछनीय और क्वचित् अनेकता भी वांछनीय है।

हम अनेकता मे एकता जो लाना चाहते है, वह इसीलिए कि

[illegible]

अनेकता एकता से वियुक्त हो रही है। उसे लाने के लिए हमें अपनी दुर्बलताओं तथा दूसरों की प्रबलताओं का सामंजस्यपूर्ण बोध होना आवश्यक है। वह आध्यात्मिक चेतना के विकास द्वारा हो सकता है। मैं अध्यात्म-विकास के अपने दृढ़ संकल्प के साथ दूसरे लोगों से भी यह अनुरोध करना चाहता हूं कि वे अध्यात्म-विकास का दृढ़ संकल्प लें। समता या एकता का इससे प्रशस्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

अनशन किसलिए ?

जीवन और मरण ससार के लिए अवश्यम्भावी चरण है। सब लोग जीना चाहते है, मरना कोई नहीं चाहता। धार्मिक सिद्धान्त है कि न जीने की इच्छा करनी चाहिए और न मरने की। पहली स्थिति है और दूसरा कर्तव्य। स्थिति में अपवाद भी है। विशेष स्थिति मे कुछ लोग मरने को भी तत्पर हो जाते हैं। उसे मृत्यु की इच्छा तो नही कहना चाहिए। वह आवेगात्मक प्रवृत्ति है, इसलिए उसे अनिच्छामरण या आत्महत्या ही कहा जा सकता है। उसके कई साधन हैं। उनमें एक अनशन भी है।

अनशन का इतिहास हज़ारो वर्ष पुराना है। जैन धर्म में तपस्या बारह प्रकार की होती है। उसका पहला प्रकार है अनशन। एक दिन का अनशन (त्याग) भी अनशन कहलाता है, जीवनभर के लिए किया जाने वाला अनशन (त्याग) भी अनशन कहलाता है। मृत्यु की आकाक्षा विहित नही है, अनशन विहित है। इससे काम्य और परिणाम का भेद स्पष्ट होता है। मरण अनशन का परिणाम है पर यह काम्य नही है। जीवन और मृत्यु की अभिलापा करना अनशन का दोष है।

अनशन केवल आत्म-शुद्धि के लिए विहित है। वह कव होना चाहिए? उसकी अवस्थाकृत कोई मर्यादा नही है, विवेककृत मर्यादा है। भगवान् महावीर ने कहा है—जव तक इस शरीर से विशिष्टतर उपलब्धियां हों, तव तक इसे धारण किया जाए, इसका वृंहण किया जाए और जव यह जान पडे कि इस शरीर से कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो रही है तव परिज्ञानपूर्वक इसका त्याग कर दिया जाए, बृंहण न किया जाए। अनशन

का यह परम विवेक है। साधक के लिए यह उचित है कि वह साध्य की पूर्ति के लिए जीये और उसी के लिए मरे। शरीर से मोह और मृत्यु से भय न हो, इसका साधन-सूत्र अनशन है। यह अनिवार्य नहीं है। यह उसी के लिए करणीय है जिसमें भूख सहने की क्षमता हो, शरीर के प्रति निर्मोहभाव हो। अनशन के पूर्व संलेखना की जाती है। वह आहार-त्याग की क्रमिक साधना है। भोजन को त्यागते-त्यागते एक दिन समूचा त्याग हो जाता है। अनशन से मानसिक समाधि का स्थान बहुत बड़ा है। मानसिक समाधि के लिए अनशन का बहुत बड़ा स्थान है। जब मन, वाणी और कर्म—तीनों समाहित होते हैं, तभी अनशन होता है।

भगवान् महावीर के युग में कुछ लोग वस्तु-प्राप्ति के लिए अनशन करते थे। कुछ लोग अपनी बात मनघाने के लिए भी उसका उपयोग करते थे। इसलिए भगवान् ने कहा—ऐहिक या पारलौकिक कामना की पूर्ति के लिए तप मत करो। पूजा-प्रतिष्ठा के लिए तप मत करो। केवल आत्मशुद्धि के लिए तप करो।

आज इस सूत्र की पुनरावृत्ति बहुत अपेक्षित हो गई है। अनशन का प्रयोग बहुत सस्ता हो गया है। यह विवशता उत्पन्न करने का अस्त्र बन गया है। जो आध्यात्मिक तत्त्व है, वह राजनीतिक बन गया है। इन वर्षों में इसके अवांछनीय प्रयोग हुए हैं। इनसे हृदय-परिवर्तन नही होता। वह तभी हो सकता है, जब प्रायश्चित्त की बुद्धि या अपनी शुद्धि के लिए कोई अनशन करे। जहां दूसरों को बाध्य करने के लिए अनशन किया जाता है वहां हृदय-परिवर्तन नहीं होता। वह बल-प्रयोग है। उसे शस्त्र-प्रयोग का रूपान्तर कहा जा सकता है। हृदय-परिवर्तन के पीछे औचित्य की भूमिका होती है। बल-प्रयोग में औचित्य और अनौचित्य का विमर्श नहीं होता।

आज सभी राजनीतिक दलों को इस पर विचार करना चाहिए। जो दोषपूर्ण परम्परा चल पड़ी है, उसे समाप्त करने की सहमति प्राप्त करनी चाहिए। भौतिक आकांक्षा की पूर्ति अनशन का परिणाम नही है। उसकी पूर्ति के लिए जो भूख सही जाती है, उसके लिए अनशन जैसे पवित्र शब्द का प्रयोग भी वांछनीय नहीं है।

धर्म में विश्वास रखने वाले सभी लोगो को ऐसी दोषपूर्ण परम्परा

का प्रतिकार करना चाहिए। भौतिक साध्य की पूर्ति के लिए अनगिन उपाय हैं। उन उपायों को छोड़ अनुपाय का प्रयोग करने से धर्म और राजनीति दोनों के सामने संकट उपस्थित होता है अतः यह प्रश्न गम्भीरतापूर्वक चिन्तनीय है।

आस्था : केन्द्र और परिधि

आज मैं उन लोगों के सामने आस्था की चर्चा कर रहा हूं जो तर्क के कवच से मण्डित हैं। जिनकी प्रतिभा और क्षमता का आधार उनकी तर्क-शक्ति है। तर्क और आस्था ये दो शब्द दो भिन्न दिशाओं का संकेत दे रहे है, किन्तु मै इनमें अपूर्व सामंजस्य देख रहा हूं। आस्था और तर्क के योग को अन्धा और पगु के संयोग के रूप में समझा जा सकता है। आस्था में क्रियाशीलता है पर देखने-विचारने की क्षमता नही है। तर्क-शक्ति हर तथ्य को सूक्ष्मता से देखती है पर चलने का सामर्थ्य नहीं रखती। केवल आस्था अन्धविश्वास और अन्धानुकरण का प्रतीक है, केवल तर्क शुष्क वितण्डावाद या नीरसता का सूचक है। विकासशील व्यक्ति के जीवन में इन दोनों की अपेक्षा है। हमारी युवापीढ़ी तर्क के क्षेत्र मे कितनी ही अग्रणी क्यों न हो, आस्था के बिना उसका कोई आधार नहीं बन सकता। आस्था के सम्बन्ध मे उसे सही मार्गदर्शन प्राप्त हो, इस दृष्टि से मैने इस विषय को चुना है।

हम सबकी धार्मिक आस्था का एकमात्र केन्द्र है तेरापंथ धर्म-संघ। यह एक मर्यादित और सुव्यवस्थित संघ है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने संघ के उद्भव काल में ही मर्यादाओं का निर्माण कर दूरदर्शिता का परिचय दिया। चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने अपने समय मे मर्यादाओ को अधिक व्यवस्थित रूप दिया। तब से लेकर मेरे युग तक एक नीति चली। उसके अनुसार मुख्य-मुख्य मर्यादाओ का एक लेख-पत्र तैयार किया गया। प्रत्येक साधु प्रतिदिन उस लेख-पत्र पर हस्ताक्षर कर मर्यादाओं के प्रति अपनी सहमति व्यक्त करता। वह सहमति मात्र सहमति के लिए नही किन्तु अविभक्त आस्था को अभिव्यक्ति देने वाली थी। अविभक्त

आस्था अन्य लोगों में भी आस्था के अंकुरों का प्रस्फुटन करने में सहायक वन सकती है।

लेखपत्र पर हस्ताक्षर करने का क्रम व्यवस्थित रूप से चल रहा था। लेखपत्र अपने आप में परिपूर्ण था पर उसकी भाषा और शैली प्राचीन होने के कारण उसमें कुछ अटपटापन-सा प्रतीत हो रहा था। दीर्घकालिक चिंतन के बाद उसे वर्तमान युग के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का निर्णय लिया ताकि वह मुमुक्षु व्यक्तियों को सहज ही आत्मगत हो सके। उस निर्णय की क्रियान्वितिस्वरूप जिस लेखपत्र[1] का निर्धारण हुआ, उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण धाराओं का उल्लेख मैं आप लोगो के सामने कर रहा हूं।

---

१. मै सविनय वद्धाजलि प्रार्थना (निवेदन) करता हू कि श्री भिक्षु, भारीमाल आदि पूर्वज आचार्य तथा वर्तमान आचार्यश्री तुलसीगणी द्वारा रचित सर्व मर्यादाएं मुझे मान्य है। आजीवन उन्हे लोपने का त्याग है। गुरुदेव ! आप सघ के प्राण है। श्रमण परम्परा के अधिनेता है। आप पर मुझे पूर्ण श्रद्धा है। आपकी आज्ञा मे चलने वाले साधु-साध्वियो को भगवान् महावीर के साधु-साध्वियो के समान शुद्ध साधु मानता हू। अपने आपको भी शुद्ध साधु मानता हू। आपकी आज्ञा लोपने वालो को सयम मार्ग से प्रतिकूल मानता हू—

- मै आपकी आज्ञा का उल्लंघन नही करूंगा।
- प्रत्येक कार्य आपके आदेशपूर्वक करूगा।
- विहार, चातुर्मास आपके आदेशानुसार करूगा।
- शिष्य नहीं करूगा।
- दलबन्दी नही करूगा।
- आपके कार्य मे हस्तक्षेप नही करूंगा।
- आपके तथा साधु-साध्वियो के अंशमात्र भी अवर्णवाद नही वोलूगा।
- किसी साधु-साध्वी मे दोष जान पड़े तो उसका अन्यत्र प्रचार किए विना स्वय उसे या आचार्य को जताऊगा।
- सिद्धान्त, मर्यादा और परम्परा के किसी भी विवादास्पद विषय मे आपके द्वारा किए गए निर्णय को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करूगा।
- गण से बहिष्कृत या वहिर्भूत व्यक्ति से सस्तव नही रखूगा।
- गण के पुस्तक, पन्नो आदि पर अपना अधिकार नहीं करूगा।
- पद के लिए उम्मीदवार नही वनूगा।
- आपके उत्तराधिकारी की आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य करूगा।

पचपदो की साक्षी से मै इन सवके उल्लंघन का प्रत्याख्यान करता हू। मैंने यह लेखपत्र आत्मश्रद्धा व विवेकपूर्वक स्वीकार किया है, संकोच, आवेश या प्रभाववश नहीं।

उस लेखपत्र पर प्रतिदिन हस्ताक्षर करने के स्थान पर अव प्रतिदिन खड़े होकर उसका उच्चारण किया जाता है।

लेखपत्र में सवसे पहले अपने पर, आचार्य पर और सघ के सव साधु-साध्वियों पर सहज श्रद्धा की अभिव्यक्ति की गई है। मनुष्य के जीवन में विश्वास या श्रद्धा का विशेष स्थान है। श्रद्धा से गृहीत सामान्य औषधि भयंकर रोगो का उपशमन कर देती है। श्रद्धा के अभाव मे मूल्यवान औषधियां भी अकिंचित्कर हो जाती हैं। इस लेखपत्र की धाराएं व्यक्ति की आस्थाओं को घनीभूत बनाती हैं। आचार्य को सम्बोधित कर शिष्य संकल्प दोहराता है—

१. मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूंगा।
२. प्रत्येक कार्य आपके आदेशपूर्वक करूंगा।
३. विहार, चातुर्मास आदि आपके आदेशानुसार करूगा।
४. शिष्य नहीं करूंगा।
५. दलबन्दी नहीं करूंगा।
६. आपके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करूंगा।
७. आपके तथा साधु-साध्वियों के अंशमात्र भी अवर्णवाद नहीं बोलूंगा। किसी साधु-साध्वी में दोष जान पडे तो उसका अन्यत्र प्रचार किए बिना स्वयं उसे या आचार्य को जताऊगा।
८. सिद्धान्त, मर्यादा और परम्परा के किसी भी विवादास्पद विषय में आपके द्वारा किए गए निर्णय को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करूंगा।
९. पद के लिए उम्मीदवार नही बनूंगा।

प्रथम दो धाराओं में शिष्य आचार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है। आज्ञा का उल्लंघन बड़ी वात है, निर्देश और इंगित का अतिक्रमण भी उसकी मनः स्थिति को भंग कर देता है। आचार्य की आज्ञा शिष्य के लिए सर्वोपरि है। आज्ञा-पालन में क्यों और कव का प्रश्न नहीं होता।

विहार साधु-चर्या का मुख्य अंग है। चातुर्मासिक क्षेत्र का निर्धारण भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। विहार और चातुर्मास के सम्वन्ध मे व्यक्तिगत चिंतन संघीय हितों को उपेक्षित कर देता है। इस दृष्टि से इनके निर्धारण का दायित्व आचार्य पर रहता है। अपने धर्म-संघ की शालीन परंपरा मे इस

विधान का परिणाम बहुत सुखद रहा है। कई बार तो ऐसे प्रसंग भी उपस्थित हुए है कि आचार्य ने कुछ व्यक्तियों को चातुर्मास-निर्धारण में अपना स्वतन्त्र निर्णय लेने की अनुज्ञा दी। किन्तु इससे उन लोगो के सामने बहुत जटिल स्थिति उत्पन्न हो गई। आचार्य द्वारा चातुर्मास की नियुक्ति कराकर ही उन्होने आत्मस्थता का अनुभव किया।

अपना-अपना शिष्य नहीं बनाना, इस विधान में पूज्य भिक्षु स्वामी की सूक्ष्म मेधा की गहराई का स्पष्ट निदर्शन है। शिष्य-लोलुपता संगठन और संघ की समतामूलक व्यवस्थाओं के लिए खतरा है। इससे एक केन्द्र के प्रति आस्थाभाव प्रबल नहीं होता। आचार-विचार और प्ररूपणा पद्धति भी एक-रूप नहीं रह सकती।

दलबन्दी की दलदल में फंसने वालो की क्या स्थिति है, यह आपसे अज्ञात नही है। राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर भी दलबन्दी से वाछनीय परिणाम नहीं आ सकते, जबकि धार्मिक और आध्यात्मिक स्तर पर तो इसका कोई मूल्य है ही नही। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए दल विशेष का घेरा तैयार करने वाला व्यक्ति महान् हितो से वचित रहता है। मेरे अभिमत से अज्ञान और व्यामोह के कारण ऐसा घटित होता है। एक सबके लिए और सब एक के लिए—ऐसा तादात्म्य भाव ही संघीय और वैयक्तिक विकास में सहायक होता है।

आचार्य अपनी विशुद्ध और निष्पक्ष नीति से काम करते है। शिष्यो द्वारा उसमें हस्तक्षेप होने से बहुत जटिलता हो जाती हे। तेरापंथ संघ मे एकतंत्रीय शासन पद्धति होने पर भी व्यावहारिक स्तर पर जनतंत्रीय पद्धति पूर्णरूप से सावकाश है अथवा यों कहा जा सकता है कि यहां न एकतंत्र है, न जनतत्र किन्तु आत्मतंत्र है। किसी भी प्रसग में आचार्य के समक्ष अपने विचारों को विनम्रतापूर्वक रखा जा सकता है किन्तु आचार्य द्वारा निर्णय देने के बाद उसमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। यह विधान कार्य पद्धति को सुव्यवस्थित रखकर साधकों को पूर्ण निश्चिन्तता देता हे।

पर-दोष-दर्शन और उसका ख्यापन मानवीय दुर्बलता है। व्यक्ति जिस समाज या सस्था से सम्बन्धित होता है, उसके द्वारा उसे अभिलषित सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती, मनमाना करने की छूट नहीं मिलती है, वहां दूसरो की निन्दा करके स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह हीन और

अबुद्धिमत्तापूर्ण कदम है। अपने अहं को पुष्ट करने के लिए दूसरों का अवर्णवाद सीधा पतन का मार्ग है।

समूह में सब प्रकार के व्यक्ति होते है। कुछ व्यक्तियों से छोटी-बडी भूलें भी हो जाती हैं। किसी की त्रुटि ध्यान में आ जाए तो मुनि क्या करे? इस प्रश्न का कितना वैज्ञानिक समाधान है—त्रुटि को न छिपाना और न फैलाना। संघ के किसी भी सदस्य की गलती होती है तो उसे अपनी भूल से अवगत करा देना चाहिए। गलती बताने का उद्देश्य उसके शोधन की वृत्ति हो। व्यक्ति अपनी भूल-सुधार पर ध्यान न दे, अथवा किसी से उसे स्पष्ट रूप से कहने का साहस न हो तो वह आचार्य को निवेदन कर दे। भूल करने वाले व्यक्ति को या आचार्य को नहीं बताकर उसका इधर-उधर प्रचार करने वाला व्यक्ति स्वयं दोष का भागी बनता है। क्योंकि उसका उद्देश्य सही नही है। गलती बताने वाले के प्रति आक्रोश के भाव न हो और गलती करने वाले के प्रति हीनता के भाव न हो। सहज सौहार्द और त्रुटि-प्रतिकार का दृष्टिकोण संघ को स्वस्थ और विकासशील बनाए रख सकता है।

व्यक्ति के पास अपना चिन्तन होता है और वह चिन्तन का उपयोग भी करता है। किन्तु जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जहां व्यक्ति का अपना चिन्तन उसे धोखा दे देता है। ऐसे क्षणों में व्यक्ति को चिन्तन नही, अनुचितन करना चाहिए। अनुचिंतन अर्थात् किसी के चितन का अनुकरण। साधु-संघ के सामने सैद्धांतिक, पारस्परिक और मर्यादा सम्बन्धी बहुत-सी बातें हैं। वे शताब्दियों से चल रही हैं। कभी-कभी उन्हे लेकर कोई प्रश्न खड़ा हो जाता है। उस प्रश्न को लेकर सब लोग चर्चा-परिचर्चा मे उलझ जाएं तो कोई समाधान नही मिलता। जिस समय किसी मर्यादा या परम्परा का निर्धारण होता है, पता नहीं वह किन परिस्थितियो में होता है। वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ मे वह आलोच्य बन जाता है। ऐसे प्रसग में अपने चितन को अतिरिक्त महत्त्व देने वाला व्यक्ति भटक सकता है। ऐसी स्थिति में आचार्य द्वारा किये गए निर्णय को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना तूफानी समुद्र में फंसी हुई नौका का तट पर पहुंचना है। धर्म-संघ की आस्था के एकमात्र केन्द्र आचार्य के निर्णय पर अविश्वास करने वाला व्यक्ति समाहित नही हो सकता।

पद के लिए उम्मीदवार नही बनना, यह एक ऐसी धारा है जो सघ को हजारो-हजारो विषम परिस्थितियों से त्राण दे रही है। पद-लोलुपता एक बीमारी है जो व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक आस्थाओ को तोड़ देती है। पंद की भूख व्यक्ति को बेभान बनाती है। पद की प्राप्ति और उसकी सुरक्षा, इन कामों में ही अपनी शक्ति का नियोजन करने वाला व्यक्ति न अपना हित कर सकता है और न समाज का। पद के लिए उम्मीदवार नही बनना, इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति योग्य न बने। हर साधु-साध्वी आचार्य पद की योग्यता प्राप्त करे, किन्तु पद की आकाक्षा न करे। पद की अभीप्सा व्यक्ति को मृत्यु के क्षणों में भी उस चिंतन से विमुख नहीं कर सकती।

पद की भूख से व्यक्ति अपने दायित्व और कर्तव्य को विस्मृत कर देता है। व्यक्ति पद के लिए दौड-धूप न करे, किन्तु पद स्वयं व्यक्ति का वरण करे, यह अपेक्षा है। आज पद (कुर्सी) के लिए जो छीना-झपटी, आरोप-प्रत्यारोप, प्रलोभन और भ्रष्ट साधनो का उपयोग हो रहा है, जनतंत्र के लिए अत्यन्त दुःखद है। इस घटना-चक्र का अत तव ही हो सकता है, जब देश का हर नागरिक स्वार्थ की प्रेरणा या आकाक्षा की प्रेरणा से पद के लिए उम्मीदवार न बनने का संकल्प स्वीकार करेगा।

आस्था के परिप्रेक्ष्य मे मैंने लेखपत्र की कुछ धाराओं का विश्लेषण किया। आस्था का मूल केन्द्र व्यक्ति की अपनी आत्मा है। अपने अस्तित्व पर जिसको आस्था होगी, वह उसके विकास के लिए प्रयत्नशील रहेगा। विकास के लिए जिन-जिनका सहयोग अपेक्षित होता है, वे सव उस केन्द्र की परिधि मे अन्तर्निहित हैं। मुख्य सहायक तत्त्वों को भी मूल केन्द्र मानकर उपचरित किया जाता है। केन्द्र हो या परिधि, मुख्य वात आस्थाशीलता की है। मैं चाहता हू कि आप लोग अपने प्रति, अपनी मजिल, मार्ग और मार्गदर्शक के प्रति अनौपचारिक आस्थाभाव जागृत करें तथा कुछ ऐसे सूत्रों का चयन करें जो आपकी आस्था को आलंबन दे सके। चिंतन की दृप्टि से मैं आपके सामने कुछ सूत्र प्रस्तुत कर रहा हूं—

१ मैं आत्मसाक्षी व गुरु-साक्षी से संकल्प करता हूं कि देव, गुरु और धर्म के प्रति परिपूर्ण आस्था भाव का विकास करूगा।

२. मैं धर्म और अध्यात्म को जीवनगत करने का अभ्यास करूंगा।

३. मैं धर्म-संघ और संघपति की आक्षेपात्मक आलोचना नही करूंगा और न ऐसा करने वालो को प्रोत्साहन दूंगा।
४. मैं किसी सैद्धान्तिक या व्यावहारिक विवादास्पद विषय में आचार्य द्वारा किए गए निर्णय को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करूंगा।
५. मैं सम्यक्त्व-दीक्षा और व्रत-दीक्षा के लिए अपने आपको प्रस्तुत करूंगा।
६. मैं केवल जन्मना नही, कर्मणा जैन बनने का प्रयत्न करूंगा।
७. मैं सत्संग, योगासन, जप, ध्यान आदि नियमित चर्या का अभ्यास करूंगा।
८. मै धर्म-संघ के प्रति अपने दायित्व का जागरूकता से निर्वाह करूंगा।
९. मैं साधार्मिक वात्सल्य का विकास करूंगा।
१०. मैं सत्साहित्य का नियमित अध्ययन करूंगा।
११. मैं अपरिग्रह भाव या ममत्व-मुक्ति का विकास करने के लिए प्रति वर्ष अपनी आय का एक निश्चित हिस्सा विसर्जित करूगा।

मैने सांकेतिक रूप से ग्यारह सूत्रों का चुनाव इस समय किया है। इनके साथ कुछ सूत्र जोड़कर एक व्यवस्थित लेखपत्र तैयार किया जाए। साधु-साध्वियों की भांति श्रावक समाज भी प्रतिदिन लेखपत्र के सकल्पो को दोहराए और उन्हें जीवनगत करने का अभ्यास करे तो बहुत बडा काम हो सकता है।

तेरापंथ : क्या और क्यों ?

समुद्र मे रहने वाली मछली से पूछा जाए—समुद्र क्या और क्यो है ? क्या उत्तर देगी वह इस प्रश्न का? समुद्र उसका संसार है, समुद्र उसका जीवन है और वह समुद्र के विना अपना अस्तित्व भी नहीं देखती। आप लोगो में किसी को पूछ लिया जाए—तेरापंथ क्या और क्यों ? शायद सही समाधान नही निकल सकेगा। जहां व्यक्ति का तादात्म्य जुड जाता है वह उसको स्वय से भिन्न रूप मे देख नहीं सकता। तेरापथ के सम्बन्ध में आपके मन मे अनेक जिज्ञासाएं हो सकती है, मै अपनी ओर से कुछ विश्लेषण प्रस्तुत कर रहा हू।

घने जगल के बीच एक बहुत बड़ा वरगद का वृक्ष था। कुछ लकड़हारे जगल से लकड़ी काटकर लौट रहे थे। मार्ग मे उस विशाल वृक्ष को देखकर वे उसके नीचे विश्राम करने के लिए बैठ गए। एक व्यक्ति नें वृक्ष की अनेक शाखाओ की ओर संकेत कर कहा—इन शाखाओ से यह वृक्ष कितना सुन्दर लगता है ? शाखाओ के कारण इसकी उपयोगिता वढ़ गई है। इधर से गुजरने वाले थके-हारे व्यक्ति यहां बैठकर थकान उतार लेते है।

दूसरा व्यक्ति बोला—तुम्हारा कथन बहुत ठीक है, पर मैं सोचता हू कि इस वृक्ष ने ही इन शाखाओ को फैलने का अवकाश दिया है। यदि वृक्ष नही होता तो शाखाओ का विस्तार कैसे होता ? शाखाओ, प्रतिशाखाओ, टहनियां और इन कोमल पल्लवो का आधार तो यह वृक्ष ही है।

तीसरा व्यक्ति वोला—वृक्ष और शाखाए अन्योन्याश्रित है। वृक्ष से शाखाओ की शोभा है और शाखाओ से वृक्ष की शोभा होती है। हमारे लिए इन दोनों का मूल्य है।

चौथा व्यक्ति बोला—यद्यपि वृक्ष और शाखाएं परस्पर सापेक्ष हैं, किन्तु मूल मूल रहेगा। मूल वृक्ष है। यों वृक्ष शब्द में शाखाओं का भी समावेश है। मूल है तना और जड़ें। जड़ें काट दी जाएं तो वृक्ष का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

मैं धर्म को एक वृक्ष के रूप में देखता हूं। सम्प्रदाय उस वृक्ष की शाखाएं हैं। जैन धर्म मूल धर्म है। उसकी मुख्य दो शाखाएं है—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर मुनि वे होते हैं जो वस्त्र नहीं पहनते। श्वतोम्बर मुनि आवश्यक श्वेत वस्त्रो का परिधान रखते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर मुनि ही हो सकते हैं, श्रावक नहीं। क्योकि सभी श्रावक, चाहे वे दिगम्बर परम्परा की मान्यताओं मे विश्वास करते है, या श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं में विश्वास करते है, वस्त्र रखते हैं। उनके वस्त्र भी बहुरगी होते है। उनके आधार पर श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्व की बात घटित नहीं हो सकती। किन्तु दिगम्बर मुनियों के अनुयायी अपने आपको दिगम्बर कहने लगे और श्वेताम्बर मुनियों के अनुयायी स्वयं को श्वेताम्बर बताने लगे। इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर इन मुख्य सम्प्रदायों का वर्गीकरण हुआ।

दिगम्बर परम्परा से कई उपशाखाओं का निर्माण हुआ। उनमे तारणपन्थ सम्प्रदाय मूर्तिपूजा मे विश्वास नही करता है। शेष दिगम्बर परम्परा मूर्तिपूजा को महत्त्व देती है। श्वेताम्बर परम्परा में भी मूर्तिपूजक और अमूर्तिपूजक का वर्गीकरण है। 'तेरापंथ' अमूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की एक शाखा है। वृक्ष की हर शाखा कुछ भिन्नता लिये होती है। धर्म के जितने सम्प्रदाय हैं वे भी भिन्नता के प्रतीक हैं। तेरापंथ धर्म-संघ भी आचार-विचार सम्बन्धी कुछ मौलिक भिन्नता के आधार पर संसार के सामने आया।

'तेरापंथ' के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु का जन्म वि॰ सं॰ १७८३ में कटालिया (मारवाड़) मे हुआ। पचीस वर्ष की वय में उन्होने स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्यश्री रुघनाथजी के पास वि॰ सं॰ १८०८ में भागवती दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने आठ वर्ष तक अपने आचार्य के नेतृत्व में शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया। इससे उनकी प्रज्ञा स्फुरित हुई। उन्होने तत्कालीन साधु-समाज के आचार-विचार को शास्त्रों की कसौटी पर कसा।

शास्त्रीय निर्देश और जीवन-व्यवहार मे अन्तर देखकर उनका मन असमाहित हो उठा। आचार्य के पास समाधान की इच्छा से गए। पर वहा उनको सन्तोष नहीं मिला। अपने लिए तथा औरों के लिए भी समस्या बनकर रहना उन्हें इष्ट नहीं था। अन्तरात्मा की आवाज ने उनको अभिनिष्क्रमण के लिए प्रेरित किया। वि॰ सं॰ १८१७ चैत्र शुक्ला ९ को बगडी (मारवाड़) मे उन्होने अभिनिष्क्रमण कर लिया। अभिनिष्क्रमण के बाद भयंकर परिस्थितियो का मुकाबला करते हुए उन्होने आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को केलवा (मेवाड) मे नयी दीक्षा ग्रहण की। तेरापंथ के उद्भव की यह छोटी-सी कहानी है।

आचार्य भिक्षु कोई नया सम्प्रदाय बनाना नही चाहते थे। आत्म-शुद्धि की विशद भावना ने उनको प्रेरित किया और वे एक बंधी-बंधाई परम्परा को तोड़कर चल पडे। लीक पर चलने वाले व्यक्ति अपने जीवन में कोई विशेष काम नहीं कर सकते। आचार्य भिक्षु ने एक नया मार्ग चुना और वह राजपथ बन गया। महापुरुष जिस पथ से चलते हैं, उनका अनुगमन करने वाले भी तैयार खड़े रहते है। स्वामीजी के अनुगमन मे तेरह साधुओ और तेरह श्रावको की संख्या का मेल देखकर एक कवि ने 'तेरापंथ' यह नामकरण किया और एक नया सम्प्रदाय प्रकाश मे आ गया।

तेरापंथ नाम मूलतः सख्यापरक था किन्तु आचार्य भिक्षु ने जव यह वात सुनी, वे आसन छोड़कर वन्दना की मुद्रा में बैठ गए और वोले—हे प्रभो ! यह तेरा—तुम्हारा पंथ है। हम तो इस पंथ के पथिक हैं। सामान्य अर्थ-बोधक शब्द से भिक्षु स्वामी ने कितना गंभीर अर्थ निकाल लिया एक अन्य व्याख्या के अनुसार पाच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां—इन तेरह व्रतो का पालन करने वाले मुनियो का संघ तेरापंथ है।

वि॰ स॰ १८१७ से १८३२ तक पन्द्रह वर्ष का समय आचार्य भिक्षु के लिए विकट सघर्षो का समय रहा। हर महापुरुप के साथ जैसा घटित होता है, स्वामीजी के साथ भी वैसा ही हुआ। भयावह परिस्थितियो और यातनाओं में वह समय पूरा हुआ। कभी-कभी निराशा के भाव भी उभरे, किन्तु साधना के मार्ग से वे विचलित नही हुए। आखिरी शुद्ध भाव से की हुई तपस्या फलीभूत हुई। जनता ने तत्त्व को समझा। आचार्य भिक्षु के चितन को

महत्त्व मिला और एक सुव्यवस्थित एवं संगठित धर्म-संघ की नींव गहरी हो गई। स्वामीजी का चिन्तन कागज पर उतरा, मर्यादाएं बनीं, व्यवस्थाओ में स्थायित्व आया और उस छोटे-से पौधे को आज हम शतशाखी वृक्ष के रूप में देख रहे है, उसकी में बैठकर निश्चिन्तता से अपने करणीय के प्रति जागरूक बन रहे हैं।

आचार्य भिक्षु ने आचार-विचार पर विशेष बल दिया। विचारो की दृढ़ता से आचार में दृढ़ता रहती है। विचार-शैथिल्य आचार की शिथिलता में निमित्त बनता है। साधु-संस्थानों में सगठन और अनुशासन का अभाव होने से शैथिल्य को प्रवेश मिल जाता है। स्वामीजी ने अपने आठ वर्षो के जीवन में इन सब बातों का बहुत सूक्ष्मता से अनुभव किया था। इसलिए उन्होंने अपने संघ में इन पर बहुत बल दिया। दान-दया सम्बन्धी भिन्न धारणाओ से उनके चिन्तन को नया निखार मिला। अपने चिन्तन के निष्कर्ष को अभिव्यक्ति देते हुए उन्होंने कहा—'संयम ही जीवन है, संयम ही धर्म है और संयम ही साधना है।' जिस प्रवृत्ति से संयम को पोषण मिले वह धर्म है। जहां धर्म है वहां भगवान् की आज्ञा है, दृष्टि है। जिस प्रवृत्ति से संयम का पोषण नहीं होता है, वह मोक्ष की दृष्टि से कभी स्वीकार्य नही हो सकती।

स्वामीजी ने कहा—हमारे सामने दो दृष्टियां हैं—पारमार्थिक और व्यावहारिक। परमार्थ के धरातल पर पारमार्थिक दृष्टि का मूल्य है और व्यवहार के धरातल पर व्यावहारिक दृष्टि का महत्त्व है। दोनों दृष्टियों का अपना भिन्न अस्तित्व है और भिन्न मूल्य है। इन दोनों को एक कर देने से स्थिति जटिल बनती है। दो भिन्न वस्तुओ का उपयोग भिन्न रूप मे होता है। उनको एक कर देने से क्या घटित होता है, इस तथ्य को उन्होने एक कहानी के माध्यम से समझाया—

कोई व्यापारी घी और तम्बाकू का व्यापार करता था। एक बार उसे दो दिन के लिए यात्रा पर जाना था। उसने अपने पुत्र को बुलाया और कहा—"मै बाहर जा रहा हूं, अतः दुकान में तुम्हें बैठना है। तुम पहली बार यहां बैठ रहे हो, ग्राहकों का पूरा ध्यान रखना।" पुत्र बहुत खुश हुआ और बोला—पिताजी ! आप निश्चिन्त रहिए, मैं सारा काम अच्छी तरह कर लूंगा।

पिता को विदा कर पुत्र ने दुकान का निरीक्षण किया। उसने देखा—और

पीपे तो बंद किये हुए थे, सिर्फ एक बर्तन में घी पड़ा है और दूसरे मे तम्बाकू। दोनों बर्तन आधे-आधे थे। उसके मन में आया—पिताजी की समझ कितनी अधूरी है। एक भाव की दो चीजो के लिए एक बर्तन से काम चल सकता है, वहां दो बर्तनों को रोक रखा है। उसने अपनी बुद्धि पर भरोसा किया और तम्बाकू का बर्तन उठाकर घी वाले बर्तन में खाली कर दिया। घी और तम्बाकू मिलकर राब सी बन गई। ग्राहक घी की मांग लेकर आया। उसने राब दिखाई। ग्राहक खाली हाथ लौट गया। दूसरा ग्राहक तम्बाकू लेने आया, वह भी खाली हाथ लौट गया। बन्द पीपे और कट्टे खोलने के लिए पिता ने मना कर दिया था। दो दिन मे कई ग्राहक आए पर उस राब को लेने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। दो दिन बाद व्यापारी लौटा। अपने पुत्र की करतूत देखकर उसे बहुत दुःख हुआ। अनमेल वस्तुओं के मिश्रण से व्यापारी के सामने कठिनाई उत्पन्न हो गई। इसी प्रकार आध्यात्मिक और लौकिक कार्यो में मिश्रण करने से स्थिति उलझ जाती है। स्वामीजी के इस कथन मे लौकिक या सामाजिक कार्यो का निषेध नहीं किन्तु लौकिक और लोकोत्तर की भिन्नता को समझने का विवेक है।

स्वामीजी के विचार अध्यात्म से अनुप्राणित थे। उन्होने हर तथ्य को अध्यात्म के कषोपल पर कसा। जो तथ्य इस कसौटी पर खरा उतरा वह उनकी दृष्टि में धर्म था। अपने चिन्तन को लोगो के सामने प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा—'त्याग धर्म है, भोग अधर्म है। व्रत धर्म है, अव्रत अधर्म है। संयम धर्म है, असंयम अधर्म है।, जिन कार्यो के लिए भगवान् की आज्ञा है वह धर्म है, अनाज्ञा अधर्म है। असंयम जीवन के जीने की इच्छा करना राग है, मरने की इच्छा करना द्वेष है और संसार-समुद्र से तैरने की इच्छा करना वीतराग भगवान् का धर्म है। साध्य-साधना की एकता पर स्वामीजी ने वहुत बल दिया। शुद्ध साध्य की उपलब्धि के लिए साधना-शुद्धि आवश्यक है। अशुद्ध साधना से शुद्ध साध्य का तालमेल नहीं वैठ सकता। धर्म आपका साध्य है, उसके लिए हिसात्मक साधनो का उपयोग विहित नही हो सकता। स्वामीजी ने मन, वचन और कर्म की एकरूपता का विवेचन करते हुए कहा—जो प्रवृत्ति अपने लिए अकरणीय है, सदोप है, उसे किसी अन्य व्यक्ति से करवाना और उसका अनुमोदन करना भी सदोप है। करना, करवाना और अनुमोदन करना एक ही केन्द्र की परिधि मे है। अतः इस

विषय में चिन्तन स्पष्ट रहना चाहिए। अल्प पाप, बहु निर्जरा या मिश्र धर्म के सम्बन्ध में अपने स्पष्टीकरण में उन्होंने कहा—जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम का मार्ग कभी मिल नही सकता। उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा का मिश्रण नहीं हो सकता। धर्म और अधर्म की प्रवृत्तियां सर्वथा भिन्न है। उन्हें एक कर मिश्र धर्म का प्ररूपण करना भोले लोगों को भुलावे में डालना है। इस प्रकार आचार्य भिक्षु ने सैद्धांतिक सूक्ष्म रहस्यों का सम्यक् वोध देकर जिज्ञासु लोगों का सफल मार्गदर्शन किया।

जैन धर्म-संघ काफी व्यवस्थित और मर्यादित धर्म-संघ है। आचार्य भिक्षु ने संघ-संगठन की दृष्टि से मर्यादाओ को अतिरिक्त महत्त्व दिया। उन्होंने अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता और अनुभवों की गम्भीरता से जो कुछ प्राप्त किया, उसे संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए नियोजित कर दिया। उन्होंने कुछ विशेष सूत्र देते हुए कहा—संघ की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है कि समूचे संघ का नेतृत्व एक आचार्य के हाथ में रहे। संघ के सर्वाधिकार आचार्य के लिए सुरक्षित रहें। कोई भी साधु-साध्वी अपना-अपना शिष्य-शिष्या न बनाए। आचार्य भी योग्य व्यक्ति को दीक्षित करे, दीक्षित करने के बाद कोई अयोग्य प्रमाणित हो जाए तो उसे सघ से बहिष्कृत कर दे। संघ की व्यवस्थाओं का पालन अन्तःकरण की निष्ठा से हो। संघ में विघटन हो, ऐसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं दिया जाए। संघ की सुदृढता के लिए कुछ विशेष संकल्प-सूत्रों का आकलन 'लेख-पत्र, मर्यादा-पत्र तथा मर्यादावलि आदि के संविधान तेरापंथ धर्म-संघ के संगठन पक्ष को बहुत सुदृढ़ बनाये हुए हैं। एक आचार-प्रणाली और एक प्ररूपणा-पद्धति इस स्वतत्रता-प्रधान युग में आश्चर्यजनक है। तेरापंथ संघ ज्ञान और आचार-प्रधान संघ है। वाह्य क्रियाकाण्डों की यहा अल्पता है। मन्दिर, तीर्थ, मूर्तिपूजा आदि कर्मकाड अपने आप में कृतार्थ हैं। आचार को यहां सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त है। समूचे संघ की आस्था एकमात्र आचार्य पर केन्द्रित है। विकास की दृष्टि से आस्था का एक स्थान पर केन्द्रीकरण अपेक्षित भी है।

आचार्य भिक्षु का उत्तराधिकार मिला आचार्यश्री भारीमालजी को। आचार्य भारीमालजी की आचार-निष्ठा, वाल्यकाल से ही जागृत अध्यात्म-चेतना और आचार्य भिक्षु के प्रति निर्विकल्प समर्पण ने उनको महान् आचार्य वना दिया। उनके वाद क्रमशः आचार्य रायचन्दजी, आचार्य

जीतमलजी, आचार्य मघराजजी, आचार्य माणकलालजी, आचार्य डालचन्दजी और आचार्य कालूरामजी ने तेरापंथ संघ का नेतृत्व संभाला। सभी आचार्यो ने संघ को ओजस्वी और वर्चस्वी बनाने में अपना पूरा योगदान दिया। पर भिक्षु स्वामी के बाद चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जायाचार्य और अष्टमाचार्यश्री कालूगणी ने संघ की आभा में चार चांद लगा दिए।

जयाचार्य ने संघ को विशेष रूप से सजाया-संवारा। स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में ३८,००० पद्य प्रमाण साहित्य का सृजन किया था। जयाचार्य ने तीन लाख पद्य प्रमाण साहित्य का सृजन कर नया कीर्तिमान स्थापित कर दिया। लेखनकला, चित्रकला, वक्तव्यकला आदि कलाओं का विकास जयाचार्य के युग में ही हुआ। उस समय संघीय व्यवस्थाओं और रहन-सहन के स्तर में काफी प्रगति हुई तथा साध्वी समाज में नये उन्मेष आए। जयाचार्य के इस काम में साध्वी-प्रमुखा सरदारांजी का विशेष सहयोग रहा। हमारे संघ में साध्वियों में प्रमुख साध्वी का विधिवत् निर्धारण साध्वी सरदारांजी से ही हुआ है। उनसे पहले साध्वी संघ की व्यवस्था का दायित्व एक साध्वी संभालती थी, पर साध्वीप्रमुखा के रूप में कोई व्यवस्था नही थी। साध्वी सरदारांजी के बाद गुलाबांजी, नवलांजी, जेठांजी, कानकंवरजी, झमकूजी और लाडांजी साध्वीप्रमुखा के पद पर रहकर काम कर चुकी है। सभी साध्वियो ने आचार्यो की दृष्टि की आराधना कर साध्वी संघ को सुव्यवस्थित और विकसित बनाने में सहयोग किया। यद्यपि साधु-साध्वी संघ का समग्र दायित्व आचार्य पर होता है, पर साध्वीप्रमुखा एक कड़ी के रूप मे काम करती है।

कालूगणी का युग अपने आप मे महत्त्वपूर्ण युग है। उनके युग में हर दृष्टि से सघ मे वृद्धि हुई। साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्रो का विकास हुआ। साधु-साध्वियो की सख्या वढ़ी और श्रावक समाज का विस्तार हुआ। कहा जाता है कि पिछले सात आचार्यो के समय मे संघ का जितना विकास हुआ, कालूगणी के समय उससे कम नही हुआ। पूज्य कालूगणी की छत्रछाया मे रहने का सौभाग्य मुझे उपलब्ध हुआ। आज भी मैं उन दिनो की स्मृतियों से आत्म-विभोर हो जाता हूं। कालूगणी ने अपना दायित्व मुझे सौंपा। मै अपने पूर्ववर्ती आठ आचार्यो द्वारा परिपोपित इस तेरापंथ के वटवृक्ष को उत्तरोत्तर विकासमान फूलों और फलो से सम्पन्न करने के लिए कृत-सकल्प

हूं। अपने चतुर्विध धर्म-संघ के अनमोल सहयोग भाव से मैं अपने संकल्प को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हूं।

तेरापंथ धर्म-संघ के इतिहास में तेरापंथ स्थापना दिवस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा का वह दिन, जिस दिन आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का बीज-वपन किया, लाखों-लाखों लोगों के लिए प्रेरणास्रोत बन रहा है। इसके अतिरिक्त तीन महोत्सव तेरापंथ संघ के लिए विशेष आकर्षण के दिन हैं। ये पट्टोत्सव, चरमोत्सव और मर्यादा महोत्सव के नाम से प्रसिद्ध हैं। पट्टोत्सव का सम्बन्ध वर्तमान आचार्य के आचार्य-पदारोहण दिवस से है। चरमोत्सव आचार्यश्री भिक्षु के स्वर्गारोहण दिवस भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी से सम्बन्धित है और मर्यादा महोत्सव संघ की मर्यादाओं और व्यवस्थाओं को स्थायित्व देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। १०९ साल से हर वर्ष माघ शुक्ला सप्तमी को इस महोत्सव का समायोजन हो रहा है। यह महोत्सव समग्र धर्म-संघ के लिए विशेष आकर्षण का विषय होता है। महोत्सव के अवसर पर बहिर्विहारी साधु-साध्वियां अपने विगत वर्ष की गतिविधियो का विवरण प्रस्तुत करती हैं और अग्रिम वर्ष के लिए विशेष सम्बल प्राप्त करती हैं। विविध विषयों पर गोष्ठियां समायोजित होती है और चिन्तन के नये आयाम खुलते हैं। मर्यादा-पालन के सकल्पों का प्रत्यावर्तन होता है और साधु-साध्वियों के चातुर्मासों की नियुक्तियां होती हैं। कुल मिलाकर सभी महोत्सवो के कार्यक्रम अत्यन्त सुखद और सरस होते हैं।

तेरापंथ संघ की नींव आचार और विचार की सुदृढ़ पृष्ठभूमि है। आचार, समाचारी और तत्त्व-निरूपण की एकरूपता इसकी मौलिक विशेषताओं में से एक है। एक आचार्य का नेतृत्व संघ की विकासशील प्रवृत्तियों के लिए बहुत शुभ रहा है। आचार्य भिक्षु ने अपनी दीर्घ दृष्टि और सूक्ष्म मनीषा से जिन नीतियो का निर्धारण किया, उनसे हम बहुत-वहुत लाभान्वित हो रहे हैं। तेरापंथ एक सम्प्रदाय है, किन्तु वह सम्प्रदायवाद को वांछनीय नही मानता। यही कारण है इस धर्म-संघ ने विश्वहित को ध्यान में रखकर मौलिक चिन्तन के सूत्र दिए है। उन सूत्रो को भिन्न-भिन्न सन्दर्भो मे जोड़ा जाए तो एक समीचीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है—

तेरापंथ धर्म-संघ की आन्तरिक परिषद साधु-साध्वियो को इस संघ ने साधना के अनुरूप वातावरण दिया है। समता, स्वावलम्वन, सुव्यवस्था

और श्रम-निष्ठा के संस्कार दिए हैं। रुग्ण, वृद्ध और शैक्ष साधकों को आश्वासन दिया है, सत्यशोध की वृत्ति, संघर्षो से जूझने की क्षमता, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक विकास और कला आदि का सम्यक् प्रशिक्षण दिया है। शोध, प्रशिक्षण और प्रयोग—इस त्रिवेणी ने साधु-संघ के सामने विकास के नये-नये आयाम खोले है।

सहिष्णुता, रूढ़िमुक्तता, तत्त्वज्ञान, शालीनता, विसर्जन, अध्यात्म-प्रशिक्षण आदि के माध्यम से 'तेरापंथ' ने श्रावक समाज को गृहस्थ जीवन जीते हुए जीवन-कला का बोध दिया है।

धर्म-क्राति, धर्म-समन्वय और भावात्मक एकता समग्र जैन समाज के लिए प्रकाश-स्तम्भ है। जीवन-यात्रा के हर पड़ाव मे इन प्रकाश-स्तम्भों से आगे बढने का साहस प्राप्त होता है।

नैतिक क्राति, मानवीय मूल्यों का प्रतिष्ठापन; जाति, प्रान्त, भाषा, वर्ण आदि भेदों के विलयन का सिद्धान्त सम्पूर्ण भारत देश के वैयक्तिक और राष्ट्रीय हितो के अनुकूल है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सह-अस्तित्व, मण्डानात्मक नीति, मैत्री भावना, युद्ध की स्थिति को टालना, शस्त्र-निर्माण मे प्रतिस्पर्धा नही करना आदि संकेतिकाएं भौतिक समृद्धि मे बेभान विदेशी लोगो को अध्यात्म की ओर आकृष्ट कर रही है।

तेरापंथ के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक जानकारी हेतु मैने आपको कुछ बाते वताई है। इस प्रारम्भिक प्रतिबोध के बाद आप लोग तेरापंथ दर्शन को गहराई से समझने के लिए उत्सुक रहेगे और समय-समय पर तत्त्व-जिज्ञासा के माध्यम से अपनी ज्ञान-पिपासा को शात करेगे, ऐसा विश्वास है। तेरापंथ तत्त्व-दर्शन को समझकर धर्म के मौलिक तत्त्व को समझने का प्रयास शाखाओ की अवगति से वृक्ष के स्वरूप-बोध के समान है। धर्म का समग्र रुप से ज्ञान और आचरण कर मानवीय, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना युवा पीढ़ी के लिए महत्त्वपूर्ण काम है।

तेरापंथ की उद्भवकालीन स्थितियां

तेरापंथ एक सम्प्रदाय है, जो आज से दो सौ वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ है। मै जैन-शासन को तेरापंथ से और तेरापथ को जैन-शासन से भिन्न नही मानता हूं। जैन-शासन मे अनेक सम्प्रदाय हैं। अनेक सम्प्रदायों का जो एक संहत रूप है वह जैन-शासन है। वृक्ष को शाखाओं से और शाखाओ को वृक्ष से भिन्न कौन कैसे मान सकता है ? शाखाएं अनेक होती हैं पर वृक्ष की शोभा बढ़ाने के लिए उनमें अनेकता नही होती। एक महान् शासन की भी अनेक शाखाएं हुई है। जब वे शासन की श्रीवृद्धि मे एक थीं तब तक अनेक होकर भी एक थी। भगवान् महावीर के नौ गणधर थे, अनेक आचार्य थे, अनेक उपाध्याय थे (अनेक अन्य)। आचार और विचार में अनेकता नही थी, यह भी नही; सहस्रावधि श्रमण सर्वथा एक-रूप हों, यह कोई मानस-शास्त्री कैसे माने ? किन्तु अनेकता में समन्वय का धागा ऐसा था कि एकता अनेकता को अपनी शोभा बनाए चल रही थी। समय बीता, स्थितिया परिवर्तित हुई—अनेकता ने अपना आसन आगे बिछा लिया। आचार और विचार का चीवर फटता गया और समन्वय का धागा टूटता गया। इस स्थिति में जो सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हुए, वे व्यवस्था की दृष्टि से किए हुए विभाग नही है किन्तु परिस्थिति की देन है। तेरापथ एक जैन-सम्प्रदाय है। उसका उद्भव भी विशेष परिस्थिति में हुआ है।

भारत की अन्तर्-आत्मा को जितना धर्म ने स्पर्श किया है उतना राज्य ने नही। भारतीय जीवन को धर्म ने जो मोड़ दिए, वे राज्य ने नहीं दिए। भारतीय मानस का सर्वोपरि आकर्पण धर्म रहा है, इसलिए उसने जितना रस धर्म-चर्चा में लिया है, उतना दूसरी चर्चा में नहीं।

चर्चा उसी की होती है, जिसका महव होता है। धर्म का महत्त्व इसलिए है कि वह आत्मा का आलोक है। वह सम्प्रदाय में प्रतिबिम्बित होता है। धर्म व्यक्ति की साधना है और सम्प्रदाय है म-विचार तथा आचार की समन्विति। सम्प्रदाय मे धर्म साकार होता है और धर्म को पाकर सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण बनता है।

आचार्य भिक्षु स्थानकवासी सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए। आठ वर्ष तक उसमे रहे। आगमो का ज्ञान प्राप्त किया, गुरु का वात्सल्य और सघ की श्रद्धा प्राप्त की। पर इस प्राप्ति मे भी उन्हे एक अप्राप्ति का अनुभव हुआ। उन्हे लगा कि सूत्रो मे मुनि को जो आचार बताया गया वह मुनियो के जीवन में नहीं है। भगवान् महावीर ने संयम का विचार दिया, उसका भी सम्यक् प्ररूपण नही है। यह एक तीव्र प्रतिक्रिया थी। इसी ने तेरापथ को जन्म दिया।

इतिहास का विद्यार्थी परिवर्तन के क्रम से अपरिचित नही होता। बह जानता है कि विश्व मे ऐसा तत्त्व कोई नही है जो नये सिरे से उत्पन्न हो या सर्वथा विच्छन्न हो जाए। जो है, वे है, और जितने है उतने ही हैं। उनमें न तो राई मात्र घटता है और न तिल मात्र बढ़ता है। तो फिर प्रश्न होता है जो आज है, वह कल नही रहता और जो कल नही है, वह आज हो जाता है, यह क्या है?

यही परिवर्तन का सिद्धान्त है। इतिहास इसी के आधार पर बनता है। जो जैसे है, वे वैसे ही रहें तो इतिहास किसका बने? अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनो एक साथ चलते हैं, इसलिए नयी-नयी घटनाएं होती है और नया-नया इतिहास बनता है।

तेरापंथ के प्रादुर्भाव का इतिहास भी घटनावलियों से रिक्त नहीं है। राजनगर के श्रावकों को समझाने के लिए आचार्य रुघनाथजी ने सन्त भिक्षु को भेजा। द्वन्द्व दोनो ओर था। श्रावको के मन मे मुनियो की आचार-शिथिलता के प्रति रोष था। सन्त भिक्षु को आचार और विचार, दोनो मे खामी का अनुभव हो रहा था। श्रावकगण साधुओ को वन्दना करना छोड चुके थे। सन्त भिक्षु गण मे विद्यमान थे। श्रावक आचार्य का विश्वास खो चुके थे। सन्त भिक्षु आचार्य के विश्वासपात्र थे। वे चाहते थे कि साध्य भी सधे और विग्रह भी न बढे। श्रावको मे सन्त भिक्षु के प्रति

विश्वास था और वे बुद्धि-वैभव के धनी थे। उन्होंने श्रावकों को समझाया। वे भिक्षु की बात मान गए और पुनः वन्दना करने लगे। सन्त भिक्षु ने उनका भार अपने पर ओढ़ लिया। उनका अन्तर्द्वन्द्व प्रज्वलित हो गया। वे अपने आचार्य रुघनाथजी के स्नेह-सूत्र में बंधे हुए थे। एक ओर वे आचार्य के साथ रहना चाहते थे और दूसरी ओर वे आचार का विकास चाहते थे। आचार्य उनकी बात मानें तभी दोनो स्थितियों का समाधान हो सकता था। राजनगर में रहते-रहते उन्होंने आगमों का गम्भीर अध्ययन किया। दीर्घ चिन्तन के बाद भी उन्हें लगा कि जो विचार उन्होंने स्थिर किया है, वह भ्रान्त नहीं है। चातुर्मास पूरा हुआ। उन्होंने आचार्य के पास जाने का विहार किया। मार्ग में गांव छोटे थे। सुविधा की दृष्टि से सन्त भिक्षु ने वीरभाणजी को अलग भेज दिया। 'पहले पहुंच जाओ तो राजनगर की स्थिति की चर्चा मत करना।' यह उन्हें समझाया गया। पर समझ तो आखिर अपनी ही काम देती है। वे पहले पहुंचे। आचार्य ने पूछा—'क्यों श्रावकों की शंकाएं मिट गई ?' वीरभाणजी बोले—'उन्हें शंका थी कहा ? वे सचाई पर थे। शंका कोई हो तो मिटे। हम भूल पर हैं। जान-बूझकर अनाचार का सेवन जो कर रहे हैं।' आचार्य स्तब्ध रह गए। वीरभाणजी अब भी मौन नही थे। वे बोले—'यह तो नमूना है, पूरी जानकारी तो सन्त भिक्षु देगे।' सन्त भिक्षु की योजना को विफल करने का यह पहला प्रयत्न था। वीरभाणजी ने जो किया वह विरोधी भाव से नहीं किया। सारे कार्य विरोधी भाव से ही विफल नहीं होते। बहुधा अविवेकपूर्ण प्रयत्न भी स्थिति को उलझा देते हैं। जो बात को न पचा सके, असमय ही प्रकाशित या प्रसारित कर दे, वह मित्र भी शत्रु का काम करता है।

वीरभाणजी ने ऐसा ही किया। सन्त भिक्षु की योजना में बाधा उपस्थित हो गई। वे आचार्य की भावना मे अपनी भावना का मिठास घोल देना चाहते थे, वह नहीं हो सका। उनकी कला को अपना कर्तृत्व दिखाने का अवसर ही नहीं मिला। उन्होंने प्रथम दर्शन में आचार्य को असन्तुष्ट पाया। उन्होने आचार्य को प्रसन्न करने का यत्न किया, अपनी भावना को नम्रता के साथ रखा। पर जो स्थिति जटिल हो चुकी थी, वह सुलझी नहीं। एक दिन अन्तर्द्वन्द्व सिमट गया। सन्त भिक्षु अपने आचार्य से पृथक् हो गए। थोड़े-थोड़े मतभेदों को प्रधानता दे सघ से पृथक हो जाना, जैन परम्परा को

विभक्त करना कैसा है, यह प्रश्न बहुत ही सहज है। जितना सहज है उतना ही चिन्तनीय। चिन्तनीय इसलिए है कि सब जगह मतभेद गूढ़ तत्त्वों से ही सम्बन्धित नहीं होते। बहुत बार मतभेद होते ही नहीं, कोरा आचार-पालन का प्रश्न होता है। परन्तु आचार्य भिक्षु के सामने दोनों स्थितिया थीं। विचार-भेद था ही और आचार-पालन का ज्वलन्त प्रश्न भी। आधाकर्मी आहार (मुनि के निमित्त बनाया हुआ आहार) मुनि न ले, यह आचार है। इसमे कोई मतभेद नहीं था। आचार्य ने कहा--'अभी इसे छोड़ना कठिन है।' सन्त भिक्षु ने कहा---'साधु जीवन सरल नही है, तब यह कठिन कैसे न हो ? कठिनाई का वरण कर हम जो निकले है तो फिर कठिन मार्ग पर चलने में हमें भय क्यों हो ?' और भी ऐसे अनेक आचार थे, जिनके पालन मे शिथिलता बरती जाती थी, आचार्य भिक्षु को सह्य नहीं हुई। उस समय के साधु जो करते, तब स्थिति दूसरी होती। उसमें चिन्तन को बहुत आगे वढ़ाना होता। किन्तु यह स्थिति उसके विपरीत थीं, बहुत स्पष्ट थी। इसलिए आचार्य भिक्षु को अपना पथ चुनने का निर्णय करना पड़ा। विक्रम् सं० १८१७ चैत्र शुक्ला ६ के दिन धर्म-क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। आचार्य भिक्षु के चरण नई दिशा मे वढ़े। नियति ने एक नये सम्प्रदाय की नीव डाल दी। उस समय उसका भाग्य स्पष्ट नही था। उसकी सारी रेखाए भविष्य के गर्भ मे थी। वर्तमान जैसे-जैसे अतीत होता जाता है, वैसे-वैसे भविष्य वर्तमान वनता जाता है। एक दिन तेरापथ का उदय हुआ। आचार्य भिक्षु ने सुना कि जोधपुर मे इस सघ का नामकरण हुआ है। उन्होने उसे स्वीकार किया और तेरापंथ का आलोक फैलने लगा।

प्रत्येक घटना पूर्व-स्थिति की प्रतिक्रया होती है। विलास-वैभव की प्रतिक्रिया ने भगवान् महावीर और बुद्ध जैसे हजारो राजपुत्रो को त्याग-प्रतिष्ठापन की ओर प्रेरित किया।

महर्पि दयानन्द ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आर्यसमाज की स्थापना की। वह कर्मकाण्डो की वाढ़ की प्रतिक्रिया थी। साधुओ की सुखशीलता और अनुशासनहीनता की प्रतिक्रिया ने तेरापथ को जन्म दिया।

आचार्य भिक्षु ने अपनी रचनाओं मे आचार-शिथिलता पर प्रहार किया। उन कृतियो से उस समय के साधुओ की आचार-सम्वन्धी स्थिति पर पूरा पकाश पडता है। उनकी शेप रचनाएं मुख्यतया वैचारिक मतभेद से

सम्बन्धित हैं। सगठन को एक सूत्र में बांधे रखने और अनुशासन को मूल्यवान बनाने की उनकी सूझ मौलिक है या नहीं, यह विवादास्पद हो सकता है किन्तु उसे क्रियान्वित करने और उसमें सफल होने का श्रेय आचार्य भिक्षु को है, यह निर्विवाद सत्य है।

आचार्य भिक्षु ने वि॰ सं॰ १८१७ (आपाढ पूर्णिमा को) तेरापंथ की दीक्षा स्वीकार की। इस कार्यक्रम में उनके साथ तेरह साधु थे। चार उनके पास थे और शेष नौ दूसरे गांवों में थे। इनमें से छः साधु ही (आचार्य सहित) तेरापथ मे रहे, शेष सात उससे पृथक् हो गए। संख्या और शुद्धि—ये दो विकल्प हैं। आचार्य भिक्षु ने इनमें दूसरा विकल्प चुना। सख्या भले ही कम हो, शुद्धि अधिक रहे, इसी भित्ति पर उन्होंने तेरापंथ का भवन खडा किया। पद-लोलुपता के निवारण के लिए उन्होने यह सूत्र दिया की आचार्य एक हो। सगठन व्यवस्थित रहे, इसलिए उन्होंने मर्यादावलि का निर्माण किया। समसूत्रता के लिए उन्होने अनुशासन को प्रोत्साहित किया। आचार और विचार की समरेखाओं के निर्माण में उनकी लेखनी ने अपना पूरा कौशल दिखाया। एक आचार्य, समान आचार और समान विचार—तेरापंथ की ये तीन विशेषताएं हैं। चिन्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु गण की मान्यता के प्रतिकूल हर सदस्य को विचार-सस्थापन की स्वच्छदता नही है। उसके लिए प्रत्यक्षतः आचार्य की और परोक्षतः गण की स्वीकृति लेनी होती है। विचार-भेद होता है, यह सहज है, किन्तु अपने-अपने विचार का आग्रह हो तो संगठन का आधार सुदृढ नहीं रह सकता। अपने चिन्तन पर सत्य का विश्वास होता है, पर दूसरे का चिन्तन सत्य नहीं, इसका आधार क्या ? सत्य का निर्णय व्यवहार-दृष्टि से होता है। निश्चय दृष्टिपात न हो उस स्थिति में ऐकान्तिक आग्रह का अधिकार भी कैसे प्राप्त हो सकता है ? हमारे पास सत्य का मापदण्ड व्यवहार ही है, तब हम अपने-अपने चिन्तन को मृदु क्यो न रखे ! इस चिन्तन के आधार पर आचार्य भिक्षु ने इस मर्यादा का निर्माण किया कि कोई नया तथ्य मिले तो वहुश्रुत मिलकर उस पर चिन्तन कर लें, अपना चिन्तन आचार्य तक पहुचा दे और आचार्य जो अन्तिम निर्णय दें, उसे मान्य कर लें। यह व्यवस्था संगठन का सुदृढ आधार है। इससे आग्रह की भावना टूटती है और समन्वय-वुद्धि के चलने का पथ प्रशस्त होता है।

चिन्तन की स्वतन्त्रता न हो तो श्रद्धा जड़ बन जाती है और श्रद्धा विकसित न हो तो चिन्तन उच्छृंखल बन जाता है। जहां चिन्तन की स्वतन्त्रता होती है और श्रद्धा का विकास होता है वहा अहिंसा होती है, समन्वित रूप में चलने की क्षमता का उदय होता है।

तेरापंथ की उदयोन्मुखता में इस व्यवस्था ने बहुत बड़ा योग दिया है। एक समय छः साधु रहे, इसकी चर्चा हो चुकी है। आज लगभग छः सौ पचास है। तेरह साधु और तेरह श्रावको की संख्या के आधार पर एक कवि ने 'तेरापथ' नाम रखा, वह पथ आज लाखो का पंथ है। आचार्य भिक्षु ने इस संज्ञा को 'हे प्रभो ! यह तेरा पंथ' इस रूप मे स्वीकार किया। यह पंथ पथिकों का नहीं है, भगवान् का है। किसी पथिक ने इसे निर्मित नही किया, इसका निर्माण भगवद्वाणी की कंकरीट से हुआ है। यह कोई नया पंथ नहीं है। इसका आधार बहुत पुराना है। पुराने को नया रूप मिला है, इसलिए यह नया भी है।

व्यक्ति की तीन परिधियां है—समाज, राज्य और धर्म। गत दो शताब्दियो मे इन सभी क्षेत्रो में परिवर्तन हुए हैं, क्रान्तिया हुई हैं। हिन्दुस्तान शताब्दियों से पराधीन था, इसलिए सामाजिक या राज्य-क्रान्ति की ओर उसकी गति नही हुई। स्वतन्त्रता की लडाई मे जो प्रवृत्ति चली, उस पर निवृत्ति का पूरा-पूरा प्रभाव था, इसलिए उसे अहिसक लडाई का रूप मिला। वाह्य सत्ता जो आती है, वह केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता का अपहरण नही करती, विश्वासो में भी परिवर्तन लाना चाहती है। मुसलमान और व्रिटिश जाति ने भारतीय क्षेत्र को शासित किया तो इस्लाम और ईसाइयत ने भारतीय मानस को शासित करने का यत्न किया। राजनीतिक पराधीनता का अनुभव जितना हो रहा था, उससे मानसिक पराधीनता का अनुभव कुछ भी कम नही था। समय-समय पर कुछ व्यक्ति हुए और उन्होने जनता को मानसिक पराधीनता से उबारने का प्रयत्न किया। २० अगस्त, १८२८ ई. को राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। वे विश्व-मानवता का विकास चाहते थे। उनकी दृष्टि से पश्चिमी जगत् के द्वारा पूर्वी जगत् की उपेक्षा हो रही थी, सबल मनुष्य के द्वारा निर्बल मनुष्य की उपेक्षा हो रही थी। उस समय कर्मकाण्ड और सगुणोपासना का आकर्षण मिट रहा था।

पौराणिक अवतारवाद बुद्धिवाद को चुनौती दे रहा था। ईसाइयत का सेवाभाव और मातृत्वभाव जनता के अन्तःकरण को छू रहा था। इन परिस्थितियों ने ब्रह्मसमाज को जन्म दिया। उसने निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा की, अवतारवाद को अस्वीकार किया और मूर्ति-पूजा का बहिष्कार किया। परिस्थितियों ने करवट ली, प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। भारत के पूर्वी अंचल में कलकत्ता में ब्रह्मसमाज का उदय हुआ और पश्चिमी अंचल में उसी की शाखा का प्रार्थना-समाज के नाम से उदय हुआ। इसके संस्थापक थे केशवचन्द्र सेन। इस संस्था के चार उद्देश्य थे :

१. जाति-प्रथा का विरोध, २. विधवा-विवाह का समर्थन, ३. बाल-विवाह का अवरोध, ४. स्त्री-शिक्षा का प्रचार।

भारतीय धर्म दो दार्शनिक धाराओं में विभक्त है—द्वैत और अद्वैत। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म एक है और समूचा चेतन जगत् ब्रह्ममय है। द्वैत के अनुसार सब आत्माएं समान हैं। सब आत्माओं को एक ही ब्रह्म का अंश मानने वाले और सब आत्माओं को समान मानने वाले धार्मिक मनुष्य के प्रति जितनी घृणा करते हैं, जितना तुच्छता का भाव रखते है, उतना एक अधार्मिक भी नहीं रखता।

श्रमण-परम्परा के तीर्थंकरों या प्रवर्तकों ने जातिवाद का तिरस्कार किया था। परन्तु आगे चलकर उनके अनुयायी जातिवाद के समर्थक बन गए। इस्लाम और ईसाई धर्म जातिवाद के कीटाणुओं से अस्वस्थ नहीं थे। यह इनका बहुत बड़ा आकर्षण था। जातिवाद का प्रतिरोध किए बिना उसे तोड़ा नही जा सकता था। इस परिस्थिति के पार्श्व में 'एकैव मानुषी जातिः' का घोष पुनः अभिव्यक्ति में आया और महात्मा गांधी के परिसर मे वह गूंज उठा। १० अप्रैल, १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होने पौराणिक हिन्दुत्व की आलोचना की। अपने पूर्वजो की निन्दा और विदेशियों के अनुकरण को उन्होने घातक बताया। यह स्थिति स्वदेश-भक्ति की न्यूनता में ही पनप सकती थी, इसलिए उन्होंने उसके कर्म की ओर जनता का ध्यान खीचा। इस प्रकार वैदिक धर्म मे क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो की एक सुदीर्घ परम्परा है।

श्रमण-परम्परा की क्रान्ति का इतिहास जटिलता से भरा हुआ है। उसमें

निवृत्ति का स्वर सदा प्रधान रहा है। 'संन्यास लिये बिना मुक्ति नही'— संक्षेप में निवृत्ति का सिद्धान्त इतना ही है। जैन, बौद्ध, तापस और आजीवक आदि सभी श्रमण-शाखाएं इनका समर्थन करती रही हैं। वेदान्त के प्राण-प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर ने संन्यास को श्रमण-परम्परा जितना ही महत्त्व दिया। उनके प्रच्छन्न बौद्ध कहलाने का एक कारण यह भी होगा।

आजीविकों की परम्परा विच्छिन्न हो गई। सांख्य और नापस वैदिक धारा में विलीन हो गए। कालक्रम से विदेशों में जाकर बौद्ध धर्म का रूप अत्यधिक परिवर्तित हो गया। उसका प्रारम्भ हीनयान के रूप में हुआ था। सम्राट् अशोक तक उसका यही रूप था। उसमें मन्दिर और मूर्तिपूजा का प्राधान्य नहीं था। सम्राट् अशोक के काल में महायान शाखा का उदय हुआ। उसमें आडम्बरों की प्रधानता थी। उसका देश-विदेशों मे द्रुतगति से व्यापक प्रसार हुआ। यह न तो श्रमण-परम्परा की संयममूलक प्रतिष्ठा को स्थिर रख सकी और न वैदिक-परम्परा की प्रवृत्ति जैसा आकर्षण प्राप्त कर सकी। फलतः उसकी मनोवैज्ञानिक पराजय हुई और बौद्ध धर्म भारतीय धर्मों में इतिहास का विषय वन गया।

जैन श्रमण दिगम्बर और श्वेताम्वर इन दो शाखाओं में विभक्त हुए। दिगम्वरो में भट्टारक और श्वेताम्बरों में चैत्यवासी जो हुए उनमे महायान जैसी प्रवृत्तियां विकसित हुई? दिगम्बर-तेरापथी शाखा मे भट्टारको की ओर संविग्न शाखा ने चैत्यवास की प्रवृत्तियो का प्रतिरोध किया।

लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का सर्वथा बहिष्कार कर दिया। स्थानकवासी और तेरापंथी शाखाओ ने उसी का समर्थन किया। इस्लाम मे मूर्तिपूजा मान्य नही है, अतः मुसलमानों के शासनकाल में मूर्तिपूजा का भाव प्रवल हुआ, ऐसा माना जाता है। इसमें क्वचित् सत्यांश हो भी सकता है किन्तु मूर्तिपूजा के विरोध का मूल हेतु उसी के परिपार्श्व मे विकसित आडम्वर है। मूर्ति एकाग्रता के आलम्वन के रूप में स्वीकृत हुई, परन्तु आगे चलकर उसने साध्य का रूप ले लिया। यहां से उसकी प्रतिक्रिया का वीज-वपन हो गया और मूर्ति के विरोध में स्वतन्त्र शाखाओ का विकास हुआ, तेरापथ उन्ही मे से एक है।

मूर्तिपूजा का प्रश्न स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय के सामने समान है। तेरापंथ का उद्भव भिन्न परिस्थितियो मे हुआ। उस समय के मुनि

क्रय-विक्रय जैसी प्रवृत्तियों में फंसते जा रहे थे। जीमनवार से भिक्षा लेने लगे थे। गृहस्थों को धन देने की प्रेरणा देते थे। शिष्यों को मोल लेते थे। 'मेरे पास ही दीक्षा लेना और किसी के पास नहीं'—इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिलाते थे। साधु अकेले रहने लगे थे। आचार्य भिक्षु ने 'साधां रै आचार री चौपई और १८१ बोल की हुण्डी' में इन स्थितियों का विशद चित्रण किया है। आचार के इन मूल प्रश्नों ने ही उन्हे स्थानकवासी सम्प्रदाय से सम्बन्ध-विच्छेद करने को बाध्य किया।

दान और दया के धार्मिक स्वरूप में भी मतैक्य नहीं था। जैन साधु प्रवृत्ति की ओर झुकते जा रहे थे, यह आचार्य भिक्षु को सिद्धान्त-सम्मत नहीं लगा। व्रताव्रत, जिनाज्ञा, सावद्य-निरवद्य क्रिया, लब्धि-प्रयोग आदि विषय दया-दान के ही खण्डन-मण्डन में प्रयुक्त हुए हैं।

मुनि आहार करता है, मुनि नींद लेता है, वह धर्म है या नही—इन प्रश्नों में भी मतभेद था। मिथ्यात्वी की क्रिया धर्म है या नहीं ? एक ही क्रिया में थोड़ा पाप और बहुत निर्जरा (धर्म) होती है या नहीं ? ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी विवादास्पद थे। इनमें कुछेक विषय ऐसे हैं, जो सम्प्रदाय-भेद के निमित्त बने और कुछेक ऐसे हैं, जिनका समाधान पाने के लिए सम्प्रदाय-भेद आवश्यक नहीं होता।

धर्म साधन है, साध्य है मोक्ष। मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है इसलिए वह एक पहेली है। धर्म यद्यपि प्रत्यक्ष है, फिर भी उसका स्वरूप एक नहीं है, इसलिए वह भी एक जटिल पहेली है। यह सब लोग जानते हैं कि धर्म की आराधना के लिए सम्प्रदाय बनता है, सम्प्रदाय के विकास के लिए धर्म नहीं बनता। किन्तु सम्प्रदाय की जड़ें सुस्थिर बन जाती हैं तव धर्म के लिए सम्प्रदाय नही रहता, सम्प्रदाय के लिए धर्म बन जाता है। आचार्य भिक्षु सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। फिर भी उनकी दृष्टि में धर्म और सम्प्रदाय एक नही थे। धर्म शाश्वत सत्य है। सम्प्रदाय उसकी एक व्याख्या है। उसकी एक आराधना है। आराधना करने वाला धर्म को पा सकता है, उसके लिए वह किसी कारागार का निर्माण नही कर सकता। इसी सत्य के आलोक में आचार्य भिक्षु ने कहा। 'एक मिथ्या-दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का आराधक है और एक सम्यक्-दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का विराधक है।' भगवान् महावीर की भापा मे पुरुप चार प्रकार के होते हैं :

१. शील-सम्पन्न, श्रुत-सम्पन्न नही।

२. श्रुत-सम्पन्न, शील-सम्पन्न नही।

३. श्रुत-सम्पन्न, शील-सम्पन्न।

४ न श्रुत-सम्पन्न, न शील-सम्पन्न।

मोक्ष की आराधना के दो तत्त्व हैं—श्रुत और शील। तीसरे पुरुष की आराधना इसलिए पूर्ण होती है कि उसमे श्रुत भी होता है और शील भी। तात्पर्य की भाषा में वह सम्यक्-दृष्टि भी है, व्रती भी है। चौथा पुरुष न सम्यक्-दृष्टि होता है और न व्रती, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग का पूर्ण विराधक होता है। दूसरा सम्यक्-दृष्टि होता है पर आचार-सम्पन्न नही होता है, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग का पूर्णत· आराधक नही होता, अशतः विराधक भी होता है, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग का पूर्णतः विराधक नहीं, आराधक भी होता है। इसी नयी दृष्टि के आधार पर आचार्य भिक्षु ने धर्म को सम्प्रदायमुक्त प्रमाणित किया। निश्चय मे सम्यक्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि की भाषा उलझन से भरी है। व्यवहार की भाषा मे अपने सम्प्रदाय का अनुगमन करे, वह सम्यक्-दृष्टि। उसका अनुगमन न करे, वह मिथ्या-दृष्टि। मिथ्या-दृष्टि अर्थात् दूसरे सम्प्रदाय का अनुयायी भी धर्म की आराधना कर सकता है। इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में धर्म के सम्प्रदायातीत स्वरूप की उदात्त घोपणा है। तेरापथ एक सम्प्रदाय है किन्तु प्रचलित अर्थ में जो साम्प्रदायिकता है, वह उसमे नही है।

धर्म का व्यापक प्रयोग

धर्म की आराधना का अधिकार सवको है, इस दृष्टि से वह व्यापक है। धर्म की एक निश्चित मर्यादा है। जो कुछ आवश्यक है, सव धर्म नही है, इस दृष्टि से यह व्यापक नही भी है। प्रवृत्ति जीवन की आवश्यकता है। निवृत्ति जीवन की आवश्यकता नही है, यदि है तो वह एक सीमित अर्थ में। पवृत्तिवाद का क्षेत्र विस्तृत हुआ और आवश्यकता ने धर्म का रूप ले लिया। निवृत्ति के क्षेत्र मे धर्म का सम्वन्ध मोक्ष से था। प्रवृत्ति के क्षेत्र मे उसका सम्वन्ध जीवन की आवश्यकताओ से जुड गया। आचार्य भिक्षु ने उसी विस्मृत सत्य की पुनः याद दिलाई। उन्होंने कहा—जो आवश्यक है

वह सब धर्म नहीं है और धर्म है वह जीने या जिलाने के लिए आवश्यक नहीं है। उनकी भाषा मे 'जीओ और जीने दो' का कोई धार्मिक मूल्य नही है।

धर्म है संयम, धर्म है व्रत। जो संयमी है, व्रती है, वह धार्मिक है। जो असंयमी है, वह धार्मिक नहीं है। इस संयम की कसौटी पर जब धर्म को कसा तो दया और दान पूर्णतः खरे नहीं उतरे। उन्होंने देखा दया धर्म भी है, दान धर्म भी है और नहीं भी है।

दया और अहिंसा एक है। अहिंसा का उद्गम-स्थल संयम है। जहां संयम है, वहां अहिंसा है और जहां अहिसा है वहां दया है। यह दया का धार्मिक स्वरूप है। जहां संयम और अहिंसा नहीं है, वहां जो करुणा है, उसका स्वरूप धार्मिक नहीं है। इसी प्रकार दान का भी संयम और असंयम के आधार पर विभाजन होता है।

आचार्य भिक्षु ने दया-दान का जो विशेष विवेचन किया, वह अज्ञान-पूर्ण कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया का परिणाम है। उस समय के धार्मिक रूढ़िवाद से ग्रस्त होते जा रहे थे। धर्म का आचरण करने से जी चुराते थे। धर्म को खरीदना शुरू कर दिया था। गरीबों को धन देते और उनकी क्रिया का फल हमे मिलेगा—इस आस्था से स्वयं कुछ भी नहीं करते, मुक्त भाव से अधर्म का आचरण करते। दान और दया के आचरण मे नैतिक और चारित्रिक जीवन कुण्ठित हो रहा था। यह स्थिति चरम बिन्दु तक पहुंच चुकी थी। इस स्थिति के आलोक में हम देख सकते हैं कि आचार्य भिक्षु ने दया-दान की जौ शल्य-चिकित्सा की, वह अहेतुक नहीं है।

धर्म का मूल समभाव है। दया और दान का स्वरूप विषमता की भित्ति पर परिपालित हुआ है। दया करने वाला बड़ा और जिस पर दया की जाए, वह छोटा, दान देने वाला बड़ा और जिसे दिया जाए वह छोटा, यह वडप्पन और छुटपन की रेखा चौड़ी हो रही थी। जो समर्थ नहीं, जिसके पास शक्ति नहीं, वह क्या दया करे और क्या दान दे ? और जो न दया करे और न दान दे, वह क्या धार्मिक ? समूचा धर्म दया और दान की परिधि में ही सिमट रहा था। धर्म का मापदण्ड शक्ति और धन के पैमाने से हो रहा था। आचार्य भिक्षु ने इस चक्रव्यूह को तोड़ डाला। उन्होंने कहा—'धन से धर्म नहीं होता, वल-प्रयोग से धर्म नहीं होता।' ये घोप नवयुग की

है कि समाज व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण न करे। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए धर्म और सामाजिकता की मर्यादा के बीच भेद-रेखा खींचनी आवश्यक है। आचार्य भिक्षु ने वही कार्य किया। उन्होंने धर्म के मौलिक रूप को विकृत नहीं होने दिया और सामाजिक चेतना पर कोई आवरण भी नहीं डाला। उनका दर्शन बहुत ही सूक्ष्म है, गूढ़ है। मैं नही कह सकता उनके अनुयायी भी उसे कितनी दूर तक समझते हैं और उनके दृष्टिकोण को कितनी यथार्थता से ग्रहण करते हैं। वैज्ञानिक-मूर्धन्य आइन्स्टीन के सापेक्षवाद ने जैसे विज्ञान के जगत् में नया युग ला दिया, वैसे ही आचार्य भिक्षु का संयमवाद धार्मिक जगत् में युगान्तकारी परिवर्तन ला देता, यदि उसे समझाने या समझने का सम्यक् और समर्थ प्रयत्न किया गया होता। यह सही है कि भारतीय जनता चिरकाल से सब स्थितियों को धर्म के मानदण्ड से मापती रही है। विशुद्ध सामाजिक या राजनीतिक दृष्टिकोण बहुत कम रहा है। स्मृतिकारों तथा अर्थशास्त्र के निर्माताओं ने सामाजिक और राजनीतिक चेतना को जगाने का यत्न किया पर धर्म शब्द से दूर रहकर वे नहीं चले। उन्होंने मोक्ष-धर्म और राज-धर्म, श्रेणी-धर्म, पूग-धर्म आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोग किए। पर जनता ने इसका एक ही दृष्टि से अंकन किया। परिणाम यह हुआ कि धर्म शब्द स्वयं उलझन बन गया। आचार्य भिक्षु ने इस उलझन की समाप्ति में अपूर्व मनोबल का परिचय दिया। उन्होंने कहा—गाय एवं भैंस का दूध, आक और थूहर का रस दूध कहलाता है, पर उनके गुण-धर्म समान नहीं होते। इसी प्रकार पदार्थ का जो स्वभाव होता है, उसे धर्म कहा जाता है, पर सभी पदार्थो के स्वभाव एकरूप नहीं होते। आत्मा का स्वभाव अनात्मा के स्वभाव से भिन्न है। उनके विकास की प्रक्रिया अनात्मा के स्वभाव-विकास की प्रक्रिया से भिन्न है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। उसके विकास की प्रक्रिया है चैतन्य-रमण। इसके तीन साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ज्ञान श्रुत है, जो चैतन्य से प्रस्फुटित होता है और चैतन्य में विलीन हो जाता है। दर्शन चैतन्योन्मुख दृष्टि है। आत्मा और अनात्मा का जो विवेक है, वही दर्शन है। चैतन्य के विकास से उसका उदय होता है और चैतन्य के विकास में वह विलीन हो जाता है। पदार्थो से उपरति और आत्मा में रति होती है, वही है चारित्र। भगवान् ने कहा—धर्म के दो रूप हैं—श्रुत और चारित्र।

मोक्ष धर्म यही है। आत्म-विकास की प्रक्रिया मे यही विवक्षित है। शेष धर्म जो हैं, वे व्यवहार-परिचालन के लिए हैं। समाजविहित कर्तव्य धर्म है—यह व्यवहार-सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि अविरति और दुष्प्रवृत्ति का जो प्रत्याख्यान है, वही धर्म है।

धर्म की इस व्याख्या के अनुसार कर्तव्य और धर्म सर्वथा एक नहीं हैं। कर्तव्य का निर्णय समाजशास्त्र के आधार पर होता है और धर्म का निर्णय अध्यात्मशास्त्र के अनुसार। कर्तव्य समाज की उपयोगिता है। वह देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। धर्म वन्धन-मुक्ति का तत्त्व है। वह शाश्वत है। वह देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप नहीं बदलता।

इसका फलित यह होता है कि जीवन का सारा व्यवहार धर्म नही है। चैतन्य-रमण की परिधि में जो किया जाता है, वही धर्म है, शेष नहीं। इस भापा ने विचारकों के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित कर दिया। यह जीवन का विभाजन है। इस व्याख्या के अनुसार जीवन के टुकडे हो जाते हैं। वह अखण्ड है। उसे इस प्रकार विभक्त क्यो किया जाए ?

प्रश्न का कलेवर कैसा जटिल है, वैसा उसका आन्तरिक रूप नही है। जीवन का अर्थ है, देह और आत्मा का योग। जहां आत्मा के साथ दैहिक अपेक्षाएं जुडी हुई है, वहां विभाजन स्वय प्राप्त है। यदि ऐसा नही होता तो आत्मवादी देह-मुक्ति के लिए धर्म की आराधना ही क्यों करता ? अनासक्त भाव या ईश्वरार्पण की भावना से व्यवहार चलाए, वह धर्म है। इस व्याख्या मे भी जीवन अविभक्त नही है। आसक्ति या स्व की भावना से जो व्यवहार का परिचालन होता है, वह अधर्म है। जहां धर्म और अधर्म दोनो की मान्यता है, वहां जीवन अविभक्त कैसे होगा ! जीवन अविभक्त वहा हो सकता है, जहां सव व्यवहारो को धर्म या अधर्म ही माना जाए। कोई भी धर्म सम्भवतः ऐसा नही मानता। यह सच है कि आचार्य भिक्षु की व्याख्या मे विभाजन का दोप नही है, कसौटी का भेद है। उनके अभिमत मे अनासक्ति, ईश्वरार्पण या सुख-शान्ति ही धर्म की कसौटिया नहीं है। उसकतेरापंथ संघ ज्ञान और आचार-प्रधान युग मे आश्चर्यजनक है। कसोटी है सयम। जहां सयम है—बाह्य-भाव की उपरति है, अन्तश्चेतन्य का स्पर्श है—वहां धर्म है। जहां धर्म असंयम है—वाह्य-भाव का स्पर्श और

अन्तश्चैतन्य की उपरति है, वहां धर्म नहीं है। धर्म की इस विशुद्ध व्याख्या की भित्ति पर तेरापथ का अभ्युदय हुआ।

जैन-शासन में तीर्थ व्यवस्था है। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका–ये चार तीर्थ हैं। तेरापथ के उद्भवकाल में दो तीर्थ थे–साधु और श्रावक। तीसरा तीर्थ (श्राविकाएं) शीघ्र हो गया। चौथा तीर्थ (साध्विया) तीन वर्ष तक नहीं हुआ। लोगों ने कहा–भीखणजी के तीन ही तीर्थ है। आचार्य भिक्षु ने कहा–लड्डू असली है, भले वह पूरा न हो। तीन वर्ष बाद चार तीर्थ हो गए।

आचार्य भिक्षु को गुण प्रिय था। इसलिए तीर्थ की पूर्णता होने मे कुछ समय लगा। जब वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े तब उन्हें विश्वास नहीं था कि उनके विचारो का अनुगामी कोई संघ होगा, साधु-साध्वियां दीक्षित होंगी, श्रावक-श्राविकाएं अनुगमन करेंगी। वे अपने साध्य की सिद्धि के लिए चले थे। अपनी साधना में लीन थे। अपने सम्प्रदाय के लोग उन्हें विद्रोही की दृष्टि से देखते थे। नये सम्प्रदाय की उन्हें कोई कल्पना नहीं थी। वे यदा-कदा लोगों को अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करते। परिणाम अनुकूल नहीं हुआ। उन्होने केवल आत्मशोधन का निश्चय कर लिया। कठोर तपस्या में लीन हो गए। उसकी प्रतिक्रिया अनुकूल हुई। लोगों ने समझा–ये आत्मार्थी हैं। ये सिद्धांत के लिए जी रहे हैं। लोक-संग्रह का इन्हें कोई मोह नहीं है, वहां अशांति का व्यूह स्वयं बन जाता है। जहां मोह नहीं है, वहा परम शांति है। जहां परम शांति है, वहां सब कुछ है। मुनि युगल (थिरपालजी और फतेहचन्दजी) की विनीत प्रार्थना सुन उन्होंने पर-कल्याण का फिर एक प्रयत्न किया। वह विफल नहीं हुआ। लोक-संग्रह हुआ। तेरापंथ एक गण बन गया। तेरापंथ के लिए 'गण' शब्द का सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग है। इसे एक सम्प्रदाय भी कहा जा सकता है। सम्प्रदाय शब्द का इन वर्षो में कुछ अपकर्ष हुआ है। वास्तव में यह गुरु-परम्परा का वाचक है। तेरापंथ मे गुरु-परम्परा को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसलिए यह एक महान् सम्प्रदाय हे।

जैन-दर्शन का तत्त्व-ज्ञान गूढ़ है। उसे हृदयंगम करना एक समस्या है। तेरापंथ में प्रतिविम्बित उसकी व्याख्याओं को पढ़ना और भी जटिल समस्या है। लोक-संग्रह जितना दृश्य आकर्षण से होता है, उतना तत्त्व-ज्ञान का

परिचय पाकर नही होता।

तेरापंथ में न तो मूर्तिपूजा का आकर्षण था, न स्थानकों का, न धन के द्वारा धर्म कराने का तथा न अन्य प्रकार के आकर्षण थे। इसलिए एक साथ लोक-संग्रह नहीं हुआ। यह कार्य बहुत धीमी गति से हुआ। साधु वने, गण का विधान सोलह वर्षो के बाद बना। आचार्य भिक्षु का अनुशासन कठोर था। उसे सहन करना सामान्य बात नहीं थी। तीन वर्षो तक साध्वियां नही वनी, उसका हेतु यही है। उन्होंने प्रारम्भिक साध्वियों के लिए जो नियम-पत्र लिखा, वह एक कसौटी है। साध्वियां तीन से कम नही रह सकती। आचार्य भिक्षु ने कहा—आज तुम तीनो दीक्षित होना चाहती हो। किसी कारणवश दो रह जाओ तो क्या होगा ? क्या अनशन के लिए तैयार हो ? उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। त्याग की भावना मे तेरापथ का उद्भव हुआ और त्याग ही उसकी प्रधान विशेषता है। त्याग और संगठन का आकर्षण वढ़ा। जन-मानस तेरापंथ की ओर आकृष्ट होने लगा। श्रावक गण घढे, साधु-साध्वियों का समुदाय भी बढ़ा। तेरापंथ की नीव सुदृढ हो गई। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि संगठन साधु-साध्वियो की योग्यता पर टिकता है। उनकी योग्यता का प्रश्न दीक्षा और शिक्षा से जुड़ा हुआ है। शिष्य-शाखा को समाप्त किए बिना अयोग्य दीक्षा का प्रवाह रोका नही जा सकता। उन्होने नियम वनाया—तेरापंथ मे सव शिष्य आचार्य के हो। कोई साधु अपना शिष्य न बनाए। दीक्षा योग्य को दी जाए, दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकल जाए तो उसे गण से पृथक् कर दिया जाए। अयोग्य दीक्षा पर उन्होंने बहुत तीखा प्रहार किया। शिष्य-परम्परा का इतिहास वहुत पुराना है। आचार्य भिक्षु ने उसमे जो परिवर्तन किया, वह सगठन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। शिक्षा का कार्य उन्होने स्वयं संभाला। अपने साधु-साध्वी वर्ग को उन्होंने शिक्षित किया। उनके शिष्य शांति, सहिष्णुता, कष्ट-सहन की क्षमता और अनुशासन-पालन में अत्यन्त निष्णात हुए। इन विशेषताओ के विना विरोधी वातावरण को अनुकूल नही वनाया जा सकता था। इनकी अपेक्षा थी, उनके शिष्यों ने उसे पूर्ण किया और वे अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल हुए।

आचार्य भिक्षु का जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए मर-मिटने की ज्वलंत कहानी है। कठिनाइयां अनगिनत थीं। पर वे आचार्य भिक्षु को, उनके

शिष्यों को पथ से विचलित नहीं कर सकीं। मुनि भिक्षा-जीवी होते हैं। स्थान और वस्त्र भी उन्हें भिक्षा द्वारा उपलब्ध होते हैं। इनकी अत्यन्त दुर्लभता का अनुभव उन्हें हुआ। उन्होंने अप्राप्ति को दुर्भाग्य नही माना, उसे वरदान समझा। कष्ट आते गए। साधु-वर्ग उन्हें सहता गया। तेरापंथ का रूप निखर उठा।

तेरापंथ क्या है ? : परिस्थितियों के सामने घुटने न टेकने का जो महान् संकल्प है वही है तेरापंथ।

तेरापंथ क्या है ? : आचार-शिथिलता को जो चुनौती है, वही है तेरापंथ।

तेरापंथ क्या है ? : अनुशासनहीनता के प्रति जो विद्रोह है, वही है तेरापंथ।

तेरापंथ क्या है ? : संगठन की महान् प्रेरणा जो है, वही है तेरापंथ।

तेरापंथ क्या है ? : धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या जो है, वही है तेरापंथ।

तेरापंथ क्या है ? : धर्म के स्वरूप को अविकृत रखने का प्रयत्न जो है, वही है तेरापंथ।

तेरापंथ क्या है ? : सत्य-शोध की सतत प्रवृत्ति जो है, वही है तेरापंथ।

तेरापंथ : एक विहंगावलोकन

आज का दिन, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा का दिन, तेरापथ के इतिहास में गोरवपूर्ण दिन है। आज के दिन महामहिम आचार्य भिक्षु ने दीक्षा स्वीकार की थी, तेरापंथ का उदय हुआ था, अनुशासन, सगठन और व्यवस्था का वीज-वपन हुआ था और धर्म-क्रांति का शंख फूका गया था।

दो शताब्दियां पूर्ण हुई हैं। हमारा भिक्षु गण इस पुण्य वेला में तीसरी शताब्दी मे प्रवेश कर रहा है। हमारा धर्म-शासन अपनी समृद्ध परम्पराओं ओर व्यवस्थित प्रणालियों के साथ तीसरे शतक के पहले चरण का स्पर्श कर रहा है। आज हम हर्ष-विभोर हैं। जितने हर्ष-विभोर है, उतने ही गम्भीर हे। हम हर्ष-विभोर इसलिए है कि समय की इस अवधि मे हमे जो मिला हे, वह साधारण नही है, यत्र-तत्र सुलभ नहीं है। दायित्व का चिन्तन करते समय हम गम्भीर हो जाते हैं। हमने जो दायित्व ओढ़ा है वह गम्भीर है। उसका सम्यक् पालन हो इसलिए हम गम्भीर है।

स्मृति

हमे जो साधना का उत्तराधिकार मिला है, वह महान् दायित्व है। कितना वडा भार है कि हम स्वय साधना मे रत रहे और दूसरो को साधना मे रत रखें। दूसरो का भार उठाना वहुत कठिन बात है। वहां हमे यह सिखाया गया हे, इसीलिए हमारा गण है, हमारा धर्म-शासन है।

भगवान् महावीर से जो दर्शन मिला, जो कार्य मिला, उसे हमने अपनाया, हम जैन वने।

आचार्य भिक्षु से हमे जो व्याख्या मिली, जो परम्पराए मिली, उन्हे हमने

अपनाया, हम तेरापंथी बने।

जैन-परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। मानव-जाति का इतिहास जितना पुराना है, उतना पुराना है। तेरापंथ का इतिहास केवल दो सौ वर्षो का है। विक्रम संवत् १८१७ की आषाढ़ी पूर्णिमा थी। यही था केलवा और यही थी अंधारी ओरी। यहीं उत्साहपूर्ण वातावरण में आचार्य भिक्षु ने जैन-धर्म की दीक्षा स्वीकार की। उसके पीछे एक क्रांति का बीज छिपा हुआ था, इसी दृष्टि से कहा जा सकता है कि उस दिन उन्होंने तेरापंथ की प्रथम दीक्षा स्वीकार की।

स्थान का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी स्थान पर हैं, उसी गांव में हैं, जहां तेरापंथ का उदय हुआ था।

समय का अपना महत्त्व होता है। आज का दिन वही दिन है, जिस दिन तेरापंथ का उदय हुआ था।

व्यक्ति का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी व्यक्ति की स्मृति कर रहे हैं, जिससे तेरापथ का उदय हुआ था।

संस्थान का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी संस्थान की स्मृति कर रहे हैं, जिसका उदय अपनी विशेषताओ के साथ हुआ था।

तेरापंथ का उद्भव और स्वरूप

तेरापंथ की विशेषता है आचार का दृढतापूर्वक पालन। आचार्य भिक्षु ने हमारे संविधान का उद्देश्य यही बतलाया है—'न्याय मारग चालण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।' तेरापंथ का उद्भव ही चारित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस अस्वीकृति में ही तेरापंथ का उद्भव-रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था—ये दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम-सूत्रो से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थिति के अध्ययन से।

आचार्य भिक्षु ने देखा—वर्तमान के साधु शिष्यो के लिए विग्रह करते हैं, उन्होंने शिष्य-परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी

भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

आज हमारे सब साधु-साध्वियां संतुष्ट हैं, सुखी हैं। वे इसलिए हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएं नहीं हैं।

आज तेरापंथ संगठित और सुव्यवस्थित है। वह इसलिए है कि शिष्य-शाखा का लोभ नहीं है।

आज तेरापंथ एक आचार्य के अनुशासन में प्रगति के पथ पर है, शक्ति-सम्पन्न है। वह इसलिए है कि उसका साधु वर्ग छोटी-छोटी शाखाओं में बंटा हुआ नहीं है।

इन सब सुपरिणामों का मूल हेतु है लक्ष्य के प्रति दृढ़ विश्वास। लक्ष्य है मुक्ति। मुक्ति के लिए आचार-शुद्धि ही एकमात्र विकल्प है। उसके लिए व्यवस्था और अनुशासन आवश्यक है।

अनुशासन और व्यवस्था

तेरापंथ का विकास जो हुआ है वह अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है।

१. हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहां बल-प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं है। जो कुछ होता है वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन और व्यवस्था देते हैं, समूचा संघ उसका पालन करता है, इसके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा और विनय—ये हमारे जीवन-मंत्र हैं। आज के इस भौतिक जगत् में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है, वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। बड़े छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड़ जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी सीमा में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या? जहां अहिंसा है, वहां पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखते किन्तु शिष्य अपने हित के लिए अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है। इस पुण्य अवसर पर मैं मंगल-कामना करता हूं कि सन्देह और पराधीनता का भाव हमारे गण में न आए और मुझे दृढ़ विश्वास है कि जब तक [illegible]

साधु वर्ग अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्थावान रहेगा, तब तक ये दोष नहीं आएंगे।

२. आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विकसित प्रयोग है। यहां सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पंडित। हाथ-पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। सब साधु-साध्वियां दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान-पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का संविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं यदि खाने वाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बट जाता है, यदि पीने वाले चार हों तो। इस संविभाग की पद्धति से हमारे साधु-साध्वियां परम संतुष्ट हैं।

अतीतावलोकन

मैं इस महान् अवसर पर समूचे संघ को कहना चाहता हूं कि वह अपने उज्ज्वल अतीत को देखे। हमारे साधु लक्ष्य के प्रति कितने आस्थावान् रहे हैं, संघ-समृद्धि के लिए कितना कष्ट सहा है, कितने खपे हैं और कितना तप तपा है? हमारा कर्तव्य है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। मै उन्हें अपनी और अपने सघ की ओर से शत-शत श्रद्धांजलियां अर्पित करता हूं।

हम श्रावक समाज को भी न भूलें, जो संघ की श्रीवृद्धि के लिए सतत जागरूक रहा है। जिसने अपने श्रद्धा-बल पर साधु-समाज को महान् योग दिया है, हम उसकी उदार भावनाओं का मूल्यांकन करें। मैं उसकी निरवद्य सेवाओं का हृदय से सम्मान करता हूं।

वर्तमान दर्शन

केवल अतीत को देखना और उसका बखान करना पर्याप्त नहीं होता। हम वर्तमान पर भी दृष्टि डाले। मैं इसे देख संतुष्ट हूं कि हमारा संघ त्रिपदी का ज्वलंत उदाहरण बन रहा है। दो सौ वर्षों के वाद भी हमारी आचार-निष्ठा मे कोई अन्तर नही आया है। मौलिक आचार के पालन में हम ध्रुव हैं, निश्चल है। दो सौ वर्षों की अवधि में अनेक परिवर्तन हुए हैं।

धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों मे भारी उथल-पुथल हुई है। विचारों का विकास हुआ है। बुद्धिवाद बढ़ा है। हमने समय को समझने का यत्न किया है, कुछ छोड़ा है, कुछ लिया है—परिवर्तनशील नियमो मे परिवर्तन न करने के आग्रह से मुक्त हैं।

यह सही है कि जहां परिवर्तन होता है, वहां कुछ-न-कुछ कठिनाइया उपस्थित होती हैं। उनका समाधान भी होता है। मैं आवश्यक नहीं समझता कि कोई विश्वास दिलाऊ। मेरे दायित्व का मुझे ध्यान है, इसलिए मै कहना चाहूगा कि सव लोग निश्चिंत रहें। जो मौलिक है उसमें परिवर्तन नही होगा और जो परिवर्तनीय है उसे देश-काल और परिस्थिति के अनुसार वदलने में संकोच भी नहीं होगा।

आज का युग और हमारा कर्तव्य

आज हम भौतिकवाद की भित्ति पर परिपोषित बुद्धिवाद के युग में जी रहे हैं। श्रद्धा, विनय और अनुशासन कसौटी पर है। वैसी स्थिति में यह इष्ट नहीं हे कि बुद्धिवाद की अवहेलना कर हम चले। इष्ट यही है कि श्रद्धा अडिग रहे, विनय वढे और अनुशासन पनपे। हमारा तेरापंथीत्व इसी मे है और इसी परम्परा को पुष्ट रखकर ही हम आचार्य भिक्षु को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित कर सकते हैं।

भविष्य कल्पना का जगत् होता है। पर इसमें सन्देह नही कि जिसका वर्तमान उज्ज्वल होता है उसका भविष्य सदा उज्ज्वल होता है। वर्तमान को उज्ज्वल वनाए रखने के लिए जो विचार-सम्पदा, आचार-परम्परा हमें प्राप्त है उसे सुरक्षित रखें तथा नये-नये विचारों से उसे समृद्ध वनाएं।

आज का विश्व आणविक-अस्त्रों की स्पर्धा से आतंकित है। वातावरण तनावपूर्ण है। इस स्थिति मे अनेकान्त दृष्टि और समन्वय की विचारधारा को प्रभावशाली वनाया जा सकता है। अहिंसा के प्रसार का यह स्वर्णिम अवसर हे।

भगवान् महावीर ने जो दिया वह सर्वाधिक है, फिर भी आज उसकी उपयोगिता और अधिक है। किसी समय जैन-शासन वहुत व्यापक वना था। उसकी व्यापकता के हेतु ये थेः

१. सैद्धांतिक और नैतिक दृढ़ता।

साधु वर्ग अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्थावान रहेगा, तब तक ये दोष नहीं आएंगे।

२. आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विकसित प्रयोग है। यहां सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पंडित। हाथ-पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। सब साधु-साध्वियां दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान-पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का संविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं यदि खाने वाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बंट जाता है, यदि पीने वाले चार हों तो। इस संविभाग की पद्धति से हमारे साधु-साध्वियां परम संतुष्ट है।

अतीतावलोकन

मैं इस महान् अवसर पर समूचे सघ को कहना चाहता हूं कि वह अपने उज्ज्वल अतीत को देखे। हमारे साधु लक्ष्य के प्रति कितने आस्थावान् रहे हैं, संघ-समृद्धि के लिए कितना कष्ट सहा है, कितने खपे हैं और कितना तप तपा है? हमारा कर्तव्य है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। मैं उन्हें अपनी और अपने संघ की ओर से शत-शत श्रद्धांजलियां अर्पित करता हूं।

हम श्रावक समाज को भी न भूले, जो संघ की श्रीवृद्धि के लिए सतत जागरूक रहा है। जिसने अपने श्रद्धा-बल पर साधु-समाज को महान् योग दिया है, हम उसकी उदार भावनाओं का मूल्यांकन करें। मैं उसकी निरवद्य सेवाओं का हृदय से सम्मान करता हूं।

वर्तमान दर्शन

केवल अतीत को देखना और उसका बखान करना पर्याप्त नहीं होता। हम वर्तमान पर भी दृष्टि डालें। मैं इसे देख संतुष्ट हूं कि हमारा संघ त्रिपदी का ज्वलंत उदाहरण बन रहा है। दो सौ वर्षो के वाद भी हमारी आचार-निष्ठा में कोई अन्तर नहीं आया है। मौलिक आचार के पालन में हम ध्रुव हैं, निश्चल हैं। दो सौ वर्षो की अवधि में अनेक परिवर्तन हुए हैं

धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों में भारी उथल-पुथल हुई है। विचारों का विकास हुआ है। बुद्धिवाद बढ़ा है। हमने समय को समझने का यत्न किया है, कुछ छोड़ा है, कुछ लिया है—परिवर्तनशील नियमों में परिवर्तन न करने के आग्रह से मुक्त हैं।

यह सही है कि जहां परिवर्तन होता है, वहां कुछ-न-कुछ कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। उनका समाधान भी होता है। मैं आवश्यक नहीं समझता कि कोई विश्वास दिलाऊं। मेरे दायित्व का मुझे ध्यान है, इसलिए मैं कहना चाहूंगा कि सब लोग निश्चिंत रहें। जो मौलिक है उसमें परिवर्तन नहीं होगा और जो परिवर्तनीय है उसे देश-काल और परिस्थिति के अनुसार बदलने मे संकोच भी नहीं होगा।

आज का युग और हमारा कर्तव्य

आज हम भौतिकवाद की भित्ति पर परिपोषित बुद्धिवाद के युग में जी रहे है। श्रद्धा, विनय और अनुशासन कसौटी पर है। वैसी स्थिति में यह इष्ट नहीं है कि बुद्धिवाद की अवहेलना कर हम चलें। इष्ट यही है कि श्रद्धा अडिग रहे, विनय बढ़े और अनुशासन पनपे। हमारा तेरापंथीत्व इसी में है और इसी परम्परा को पुष्ट रखकर ही हम आचार्य भिक्षु को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

भविष्य कल्पना का जगत् होता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि जिसका वर्तमान उज्ज्वल होता है उसका भविष्य सदा उज्ज्वल होता है। वर्तमान को उज्ज्वल बनाए रखने के लिए जो विचार-सम्पदा, आचार-परम्परा हमें प्राप्त है उसे सुरक्षित रखे तथा नये-नये विचारों से उसे समृद्ध बनाएं।

आज का विश्व आणविक-अस्त्रों की स्पर्धा से आतंकित है। वातावरण तनावपूर्ण है। इस स्थिति में अनेकान्त दृष्टि और समन्वय की विचारधारा को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। अहिंसा के प्रसार का यह स्वर्णिम अवसर है।

भगवान् महावीर ने जो दिया वह सर्वाधिक है, फिर भी आज उसकी उपयोगिता और अधिक है। किसी समय जैन-शासन बहुत व्यापक बना था। उसकी व्यापकता के हेतु ये थे:

१. सैद्धातिक और नैतिक दृढ़ता।

२. अपूर्व त्याग।

३. पारस्परिक प्रेम और ऐक्य।

४. जातिभेद का अभाव।

५. देश-कालोचित साधनों का अवलम्बन।

६. धर्म-प्रचार का अदम्य साहस।

७. व्यापक दृष्टिकोण।

समय की गति के साथ स्थिति बदल गई। आज व्यापकता कम हुई है, सम्प्रदाय और शाखाएं अधिक। कुछ शताब्दियां तो बहुत ही संघर्षपूर्ण वीतीं। यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान में दूरी कम होती जा रही है, विरोध मिट रहा है। मै इस पुण्य अवसर पर सब जैन सम्प्रदायों से यह अनुरोध करूंगा कि वे समन्वय का दृष्टिकोण इतना पुष्ट बनाएं कि जिससे सम्प्रदायों की स्थिति रहते हुए भी जैन-शासन की अखण्डता पर कोई आंच न आए। इस दिशा में मैं और मेरा संघ सदा प्रयत्नशील रहेंगे। मैं दृढतापूर्वक यह घोषित करना चाहता हूं।

मैंने आज से पांच वर्ष पूर्व बम्बई में समन्वय के जो पांच सूत्र प्रस्तुत किए थे, उन पर वैसी ही दृढ़ता है, जैसी उस समय थी। मैं हृदय से चाहता हूं कि जैन-शासन की अखण्डता निर्बाध हो। जैन साहित्य पुराकाल में समृद्ध और सर्वोपयोगी रहा है। मैं कामना करता हूं कि आज भी वैसा ही उच्चतम साहित्य और साहित्यकार जैन-शासन को सुशोभित करें।

जैन साहित्य में आगमों का स्थान सर्वोपरि है। उनकी सर्व-सुलभता की दृष्टि से जैसे हिन्दी रूपान्तर आदि आवश्यक हैं, वैसे ही उनकी मूल-पाठ की सर्वमान्य वाचना भी आवश्यक है। मैं इस कार्य के लिए पहले भी एक विचार दे चुका हूं। वह विचार आगे नहीं बढ़ा। किन्तु मैं आशा करता हूं कि एक दिन अवश्य ही उस पर ध्यान दिया जाएगा।

हमने शताब्दी के अवसर पर जो साहित्य-निर्माण की कल्पना की थी, उसमें निश्चित सफलता मिली है। इस प्रयत्न में शिथिलता नहीं आएगी, यह दृढ़ संकल्प है।

इस समय पूज्य कालूगणी की पुण्य स्मृति मुझे पुलकित कर रही है। उन्होंने तेरापंथ को उस भूमिका पर पहुंचा दिया, जहां पहुंचकर हम

विश्व-मानस को पढ़ सकते है और क्षमतापूर्वक उसके साथ चल सकते हैं।

निष्ठा को संस्कार देने वाले संकल्प

मैं इस समय महामहिम आचार्य भिक्षु, श्रीमज्जयाचार्य आदि पूर्वजों के उन वाक्यों की याद दिलाना चाहता हूं जो आज भी उतने ही प्रेरक और प्रकाश-दीप हैं।

भिक्षु-गण के नीतिमान् साधु-साध्वियो!

१. आज्ञा का जो सर्वोपरि स्थान है, उसे बनाए रखना है। 'जिन शासन में आज्ञा बड़ी'—आचार्य भिक्षु की इस वाणी को तुम कभी न भूलो।

२. हमारा सम्बन्ध आचार का है। अनाचार को कभी प्रोत्साहन मत दो। तुम्हें याद होगी वह वाणी—

> कहो साधू किसका सगा, तड़के तोड़े नेह।
> आचारी स्यूं हिले-मिले, अनाचारी ने छेह।।

३. सव परस्पर प्रेम रखो। आचार्य भिक्षु की अन्तिम शिक्षा क्या है—

> सगला रे सगला साधु साधवी,
> राखजो हेत विशेष।
> जिण तिण ने रे जिण तिण ने मत मूंड जो,
> दीक्षा दीजो देख-देख।

४. गण के प्रति अत्यन्त निष्ठावान रहो। कठिन परिस्थिति में भी उससे दूर होने की मत सोचो। श्रीमज्जयाचार्य ने जो कहा—

> प्राण जाय तो पग म खिसोरी।

५. सेवाभाव, कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ विश्वास आदि जो विशिष्ट परम्पराएं पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हैं, उन्हें विकसित करो।

हमारा साधु-संघ जिस श्रद्धा और तत्परता के साथ इन वाक्यों का पालन करता है उसे मैं एक चमत्कार मानता हूं। मैं इनके लिए साधु-साध्वियों को हृदय से बधाई देना चाहता हूं। इनके संयम और समर्पण

की मैं प्रशंसा करता हूं।

श्रावक-श्राविकाओं की निष्ठा भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। वे भी गण की चहुंमुखी प्रगति के लिए अपना योग देते रहते हैं।

सह-चिन्तन, सहासन, सह-निर्णय और सह-प्रयोग—ये हमारे मूल-मन्त्र हैं। इसलिए इस महान् पर्व पर हम सब मिलकर मंगल-कामनाएं करें कि—

अहिंसा धर्म का विकास हो!
जैन शासन का विकास हो!
तेरापंथ का विकास हो!

तेरापंथ : धार्मिक विशालता का महान् प्रयोग

मैं एक सम्प्रदाय का आचार्य हूं और साम्प्रदायिकता का समर्थक नही हूं। इन दो स्थितियो में अन्तर्विरोध जैसा प्रतीत होता है। समुद्र मे रहने वाला जीव समुद्र के अस्तित्व का विरोधी हो, यह समझने में हर व्यक्ति को कठिनाई होगी। क्या इस विरोधाभास के पीछे कोई ऐसा समर्थ हेतु है, जो उसे निरस्त कर सके?

मेरी मान्यता में सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता की एकता उन लोगो को प्रतीत होती है, जो उनकी अर्थ-परम्परा से अभिज्ञ नहीं है। मै सम्प्रदाय को गतिशील परम्परा के अर्थ मे स्वीकार करता हूं। साम्प्रदायिकता रूढ़ परम्परा मे पनपती है। मैं एकपक्षीय स्थिति-शीलता से बचा हूं। मैं जो उससे बचा हू उसमे मेरा कर्तृत्व ही नही है, मुझे अतीत से जो मिला है, उसका भी महान् योग है।

मै जिस परम्परा का आचार्य हूं, उसका नाम तेरापथ है। इसका प्रवर्तन दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु। वे बहुत क्रान्तदर्शी थे। इसीलिए उन्होंने पीठ नही चुना, किन्तु पंथ चुना। पीठ स्थिर-रूढ़ होता है और पंथ गतिशील। पीठ अमुक-अमुक के लिए होता है और पथ सबके लिए। जो पंथ सबके लिए नहीं होता, वह लम्बे समय तक गतिशील भी नही होता। आचार्य भिक्षु का पंथ सबके लिए है, इसलिए वह गतिशील है। मै उसकी गतिशीलता से प्रभावित हूं इसलिए साम्प्रदायिकता से मुक्त हूं। आचार्य भिक्षु ने भगवान् महावीर की उस वाणी का मुक्त समर्थन किया। अहिंसा उन सबके लिए है

जो उत्थित हैं या अनुत्थित हैं,
उपस्थित हैं या अनुपस्थित हैं,
दण्ड से विरत हैं या दण्ड से विरत नहीं हैं,
परिग्रह से मुक्त हैं या परिग्रह से मुक्त नहीं हैं,
संयोग से मुक्त हैं या संयोग से मुक्त नहीं है।

अहिंसा सबके लिए है, इसीलिए उसकी व्याख्या जो और जैसे बडे लोगों को दो, वही और वैसे ही छोटे लोगों को दो तथा जो और जैसे छोटे लोगों को दो वही और वैसे ही बड़े लोगों को दो।

समता धर्म है, विषमता धर्म नहीं है। समता में धर्म है, विषमता में धर्म नहीं है।

इस वाणी से अप्रभावित व्यक्ति पंथ नहीं चुनेगा, पीठ चुनेगा। आचार्य भिक्षु ने पंथ चुना, पीठ नहीं चुना, इसलिए मैं मानता हूं कि वे इस महावीर वाणी से प्रभावित थे। धर्म के लिए वह प्रत्येक व्यक्ति अधिकृत है, जिसकी अन्तर्चेतना उद्‌बुद्ध हो उठी, भले फिर वह किसी भी परम्परा का अनुगमनकारी हो। मेरी धर्म-परम्परा में यदि यह बीज विकसित न हुआ होता तो न मैं साम्प्रदायिकता से मुक्त होता और न मुझसे अणुव्रत का आन्दोलन शुरू होता। इसीलिए मै मानता हूं कि मेरी धार्मिक विशालता की सृष्टि उन हाथों से हुई है, जो अपनी परम्परागत थाती को थामे हुए हैं।

मै आचार्य भिक्षु के प्रति सहजभाव से कृतज्ञ हूं, पर इस बात के लिए बहुत कृतज्ञ हूं कि उन्होंने धर्म को व्यापक दृष्टि से देखा और उस व्यापक भित्ति पर ही प्रतिष्ठित किया।

धर्म वस्तुतः धर्म ही है। वह आकाश की भाति मुक्त और व्यापक है। कोई भी व्यापक वस्तु पकड में नहीं आती। सम्प्रदाय उसकी पकड का माध्यम है। मैं सम्प्रदाय को उपलब्धि नही, किन्तु सत्य की उपलब्धि में एक सहयोग मानता हूं। वह अपने-आप में नही है, उसका दुरुपयोग किया जाए तो वह अनिष्ट वन सकता है। वैसे तो हर कोई इष्ट दुरुपयोग करने पर अनिष्ट वन सकता है।

साम्प्रदायिकता की रेखा सम्प्रदाय को माध्यम न मानकर मूल मानने

से बनती है। मूल सत्य है। सत्य की उपलब्धि के लिए सम्प्रदाय हो तो वह अनिष्ट नहीं बनता। किन्तु सम्प्रदाय के लिए सत्य हो जाता है तब सम्प्रदाय साध्य बन जाता है और वह अनिष्ट बन जाता है। जहां सम्प्रदाय सत्य से शासित नहीं होता किन्तु सत्य सम्प्रदाय से शासित्त होने लग जाता है, वहां धर्म निष्प्राण और तेजस्-शून्य हो जाता है।

मेरी आस्था इस बात में है कि सम्प्रदाय अपने स्थान पर रहे और उसका उपयोग भी है, किन्तु वह सत्य का स्थान न ले। सत्य का माध्यम ही बना रहे, स्वयं सत्य न बने। इस आस्था में मुझे धर्म की तेजस्विता प्रतीत होती है।

मेरी इस आस्था को जहां प्राण-पोष मिला, उस सम्प्रदाय को मैं बहुत ही स्वस्थ माध्यम मानता हूं। जिन आचार्यो ने इस प्रकार की स्वस्थ परम्परा को सुरक्षित रखा, उनको भी मै महान् मानता हूं।

यह भाद्रमास आचार्य भिक्षु की समाधि-सम्पन्नता का मास है तथा अन्य अनेक अचार्यो के शासन-आरम्भ का मास है। इस पवित्र अवसर पर मैं आचार्य भिक्षु से लेकर परम पूज्य गुरुदेव कालूगणी तक के सभी आचार्यो तथा तेरापंथ की सत्योन्मुखी परम्पराओं के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं।

आचार्य भिक्षु का दार्शनिक अवदान

पादरी ने एक बच्चे से पूछा—तुम भगवान् को मानते हो क्या? बच्चे ने सकारात्मक उत्तर दिया तो पादरी ने जिज्ञासा की—तुम भगवान् को क्यों मानते हो? बच्चा पहले क्षण मौन रहा दूसरे क्षण बोला—पता नही और तीसरे क्षण कुछ सोचकर उसने उत्तर दिया—शायद हमारे खानदान में शुरू से ऐसा ही होता चला आया है।

किसी भी धार्मिक परम्परा के आदिपुरुष या आराध्य के संबध मे उसके अनुयायियों को कितनी जानकारी होती है, अनुमान लगाना कठिन है। इसी प्रकार यह बोध भी बहुत कम लोगों को होता है कि वे अपने आराध्य को क्यों मानते-पूजते हैं? शताब्दियों-सहस्राब्दियो से चली आ रही परम्परा को वे आगे बढ़ाते है, उसके पीछे एक लक्ष्य यह भी रहता है कि वह प्रवृत्ति उनके पुरखों से संचालित रही है। इसके साथ-साथ उस परपरा की दार्शनिक पृष्ठभूमि का ज्ञान हो तो व्यक्ति की मान्यता और पूजा को ठोस आधार मिल जाता है।

आचार्य भिक्षु तेरापथ धर्मसंघ के प्रथम आचार्य रहे है। धर्मसंघ की बुनियाद रखने का वह ऐतिहासिक क्षण उनके कर्तृत्व का साक्षी है। अठारहवीं शताब्दी का वह इतिहास अधिक पुराना नहीं है तो बहुत नया भी नहीं है। बीसवीं और इक्कीसवी सदी के लोग भी उस इतिहास-पुरुप से नयी प्रेरणा पा सकें, इस दृष्टि से उनके जीवन और दर्शन के एक-एक घटक को जानना-समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

आचार्य भिक्षु एक विलक्षण महापुरुप थे। उनका जीवन बहुआयामी था। एक ओर वे सत्य के खोजी थे तो दूसरी ओर परंपरा के मूल को भी

समझते थे। एक ओर वे उन्नत एवं निर्मल आचार के पक्षधर थे तो दूसरी ओर मर्यादा-पुरुषोत्तम भी थे। एक ओर वे सम्प्रदाय-विहीन धर्म के उद्घोषक थे तो दूसरी ओर जैन धर्म के महान् प्रभावक भी थे। जैन धर्म के बारे में उन्होंने बहुत बारीकी से छानबीन की। उन्होंने जैन धर्म को किस रूप में जाना और पहचाना, यह तथ्य उनके साहित्य से सहज उजागर हो जाता है। जैन धर्म के संम्बन्ध में उनकी जो मौलिक और वैज्ञानिक अवधारणाएं थीं, आज वे हमारे लिए प्रकाश-स्तंभ का काम कर रही हैं।

जैन धर्म निर्वाण-प्रधान धर्म है, निवृत्ति-प्रधान धर्म है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि यह केवल मुनियों के लिए ही उपयोगी है। जैन धर्म का आदर्श एक मुनि के लिए जितना व्यवहार्य है, एक गृहस्थ के लिए भी उतना ही व्यावहारिक है। यदि इसका संबंध केवल मुनियों से ही रहता तो धर्म की व्यापकता के आगे प्रश्न टंग जाता। अमुक वर्ग, जाति या व्यक्ति के लिए धर्म आचरणीय है और अमुक के लिए आचरणीय नहीं है, ऐसा विभेद धर्म के मंच पर नहीं हो सकता।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का निरूपण करते हुए कहा—'जैन धर्म मोक्ष-साधना का धर्म है। मोक्ष की साधना का अधिकार एक मुनि का जितना है, गृहस्थ का भी उसकी सीमा में उतना ही है। मुनि समग्रता से धर्म की साधना करता है। वह महाव्रतों के आधार पर अपनी जीवनशैली विकसित करता है, जबकि गृहस्थ अणुव्रत को आधार मानकर चलता है। व्रत की भूमिका पर मुनि और गृहस्थ दोनों ही मोक्ष धर्म के साधक होते हैं। किन्तु गृहस्थ के जीवन मे जितना अव्रत रहता है, उसका धर्म के साथ कोई अनुबन्ध नहीं है। अव्रत दुनियादारी का व्यवहार है। गृहस्थ इसका परित्याग नहीं कर सकता। पर इतने मात्र से इसे मोक्ष-धर्म की कोटि में नही लिया जा सकता।'

आचार्य भिक्षु ने धर्म के दो रूप निर्धारित किए—मोक्ष धर्म और लोक धर्म। इस वर्गीकरण को लोकोत्तर धर्म और लौकिक धर्म के रूप में भी प्रस्तुति दी जा सकती है। जब तक व्यक्ति सर्वव्रती साधु नहीं बनता है, लोक धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। पर लोक धर्म की अपरिहार्यता का अर्थ यह नही है कि वह मोक्ष धर्म हो जाता है। इस तथ्य को बहुत गंभीरता से समझने की जरूरत है। धर्म को धर्म माना जाए और लोक-व्यवहार को लोक-व्यवहार जितनी प्रतिष्ठा दी जाए तो कोई उलझन नही होती। क्योकि

धर्म और दुनियादारी का मिश्रण कभी नहीं होता। इन दोनों की अपनी स्वतन्त्र अस्मिता है। उसे स्वतन्त्र पहचान और क्षेत्र मिल जाए तो न मोक्ष धर्म के पालन में बाधा उपस्थित होती है और न दुनियावी व्यवहार का लोप होता है।

गृहस्थ के लिए मोक्ष धर्म का आचरण जितना आवश्यक है तो लोक-व्यवहार भी अनावश्यक नहीं है। कभी-कभी तो उसे मोक्ष धर्म की तुलना में लोक-व्यवहार को अधिक महत्त्व देना पड़ता है। गृहस्वामी व्यक्ति पर अपने परिवार, समाज और राष्ट्र की भी ज़िम्मेवारी रहती है। उस जिम्मेवारी को निभाते समय वह हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में बंधता ही है। पर इतना होने मात्र से हिंसा आदि का आचरण धर्म नहीं हो सकता। हिंसा और दया का रास्ता जितना अलग है, मोक्ष धर्म और लोक-व्यवहार का रास्ता भी उतना ही भिन्न है। जिस प्रकार घी और तम्बाकू एक नहीं हो सकते, उसी प्रकार मोक्ष धर्म और लोक धर्म एक नहीं हो सकते। इस सचाई को व्यावहारिक परिवेश देने के लिए आचार्य भिक्षु ने एक उदाहरण दिया है—

एक सेठ घी और तम्बाकू का व्यापार करता था। वर्षों से उनकी दुकान अच्छी चल रही थी। ग्राहको के साथ उनके सम्बन्ध मधुर थे। बाजार मे भी उसकी साख थी। यह प्रसंग उम समय का है, जब घी और तम्बाकू एक भाव में बिकते थे।

एक दिन सेठ को आवश्यक कार्य के लिए शहर छोड़कर बाहर जाना था। उसने अपने इकलौते पढ़े-लिखे पुत्र से कहा—'बेटा! आज तुम दुकान में बैठ जाओ।' सेठ का लड़का उत्साहित होकर बोला—'पिताजी! आपने मुझे पढ़ने का अवसर दिया है। समय पर मैं काम में हिस्सा नही बंटाऊंगा तो मेरी पढाई का क्या होगा? आप निश्चिन्त मन से पधारें। मैं सारा काम देख लूंगा।

पुत्र के आत्मविश्वास से आश्वस्त होकर सेठ ने कहा—बेटा! तुम पर अविश्वास तो नहीं है, पर अभी तक व्यापार का अनुभव तुम्हारे पास नही है। देखो, हमारी दुकान में दो चीजें हैं—घी और तम्बाकू। इस समय दोनो चीजें सवा किलो के भाव से बेचनी हैं। दो पीपे खुले हैं। एक घी का और दूसरा तम्वाकू का। खुले हुए पीपे खाली हो जाएं तब दूसरे पीपे खोलना। सारा हिसाब-किताब नोट कर लेना।

सारी बात पुत्र को समझाकर सेठ चला गया। पुत्र नाश्ता कर दुकान में गया। वहां उसने सारा सामान देखा। सहसा उसके मन मे विचार आया—पिताजी पुराने जमाने के आदमी हैं। उनका काम करने का तरीका भी पुराना है। अन्यथा एक भाव की दो चीजें अलग-अलग क्यों रखते? अब मुझे काम करना है। मैं अपने ढंग से काम करूगा। ऐसा सोचकर उसने तम्बाकू और घी को साथ मिला दिया।

थोड़ी देर बाद एक ग्राहक घी लेने आया। उसे तम्बाकू मिला हुआ घी दिया गया। उसे देखते ही वह झल्ला उठा। उसने कहा—'मैं सेठ साहब का पुराना ग्राहक हूं। मेरे साथ ऐसी मजाक मत करो।' सेठ का पुत्र बोला—'मजाक करना मेरी आदत नहीं है। मैं आपको बिल्कुल शुद्ध माल दे रहा हूं। कहिए, कितना घी चाहिए?' यह सुनकर ग्राहक ने कहा—घी में यह काला-काला क्या है?' यह तो तम्बाकू है। दोनों का एक ही तो भाव है। अलग रखने से क्या फायदा?' सेठ के पुत्र का ऐसा मूर्खतापूर्ण उत्तर सुन ग्राहक खाली हाथ लौट गया।

कुछ समय बीता और एक दूसरा ग्राहक तम्बाकू लेने आया। उसे घी मिश्रित तम्बाकू दिखाई गई। उसने दूसरी तम्बाकू की मांग की। सेठ के पुत्र ने कहा—जब तक यह पीपा खाली नहीं होगा, दूसरा नहीं खुलेगा। ग्राहक उसकी अनुभवहीनता पर व्यंग्य करता हुआ चला गया।

दिन भर में दसों ग्राहक आए, पर कोई भी ग्राहक पांच पैसे की भी खरींद-फरोख्त नहीं कर सका। इससे सेठजी के पुत्र का असतुलित होना स्वाभाविक था। बार-बार वह अपने पिता और ग्राहकों को कोसता रहा।

संध्या के समय सेठ घर लौटा। तब तक दुकान बन्द हो चुकी थी। सेठ ने उत्सुकताभरे मन से पुत्र से हिसाब पूछा तो वह झल्लाकर बोला—'पिताजी! आपने ग्राहकों को सिर पर चढा रखा है। एक भी ग्राहक ऐसा नही है जो मेरी बात सुनने और समझने की कोशिश करे। सबने नये पीपे खोलने की रट लगा दी। ऐसा करने के लिए आपने मना किया था। अव भला मैं आपको क्या हिसाब दूं?' सेठ को जैसा भरोसा था, वैसा ही हुआ। वह जानता था कि केवल डिग्री हासिल करने से कोई भी व्यक्ति सफल व्यापारी नही बन सकता। व्यापार या किसी भी क्षेत्र में सफलता पाने के लिए विवेक, अनुभव और ग्रहणशीलता का होना आवश्यक है।

सेठ ने सारी स्थिति की जानकारी कर घी-तम्बाकू वाला पीपा पुत्र के हाथ में थमाकर कहा—'जाओ, इसे कचरे के ढेर पर डालकर आओ।' पिता की यह बात सुन पुत्र खुली आंखों से देखता रह गया। पुत्र की मनःस्थिति को भांपकर सेठ बोला—'बेटा! ये दोनों ही चीजें अलग-अलग ही काम मे लेने की है। इनको मिलाने से ये दोनों ही निकम्मी हो गई।'

पुत्र को अपनी भूल का अहसास हो गया। सेठजी को अपने ग्राहकों को व्यवस्थित करने में काफी समय लग गया।

आचार्य भिक्षु ने उक्त उदाहरण को साहित्यिक अभिव्यक्ति देते हुए लिखा—

> जिण कोई घृत नै तमाखू विणजै वासण विगत न पाड़ै रे,
> घीरत लेई नैं तमाखू में डालै तो दोनूं वस्तु बिगाड़ै रे,
> चतुर विचार करी नै देखो।।

घी और तम्बाकू की तरह मोक्ष धर्म और लोक धर्म का मिश्रण भी वांछनीय नहीं होता। मोक्ष धर्म व्रत रूप है, संयम रूप है। लोक धर्म अव्रत और असंयम रूप है। मोक्ष धर्म में त्याग और अहिंसा का मूल्य है। लोकधर्म में भोग और हिंसा की प्रधानता है। दोनों के उद्देश्य भिन्न है और रास्ते भी भिन्न हैं। जो कोई इन दोनों का मिश्रण करने की कोशिश करता है, वह अनर्थ को न्योता देता है।

जैन लोगों की जीवन-शैली मोक्ष धर्म और लोक धर्म—दोनों से प्रभावित है। वे सयंम आदि का आचरण करते हैं और जीवन की अतिम मंजिल भी इन्ही को मानते हैं। यह मोक्ष धर्म का प्रभाव है। इसके साथ उन्हें जीवनयापन के लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य आदि का सहारा लेना पड़ता है, यह सब दुनियादारी है। वे आवश्यक समझ कर ऐसी प्रवृत्तियां करते हैं, किन्तु इन्हें कभी भी मोक्ष धर्म नहीं मानते। यह दृष्टिकोण का सम्यक्त्व या मान्यता का विशुद्धीकरण ही उन्हें सांसारिकता से मोक्ष धर्म की ओर अग्रसर कर सकता है। आचार्य भिक्षु ने जो चिन्तन और विवेक दिया, उसे आधार मानकर कोई भी व्यक्ति सत्य को समझ सकता है और सत्य को पा सकता है।

आचार्य भिक्षु : समय की कसौटी पर

चार प्रकार के पुरुष

स्थानांग सूत्र में अनेक प्रकार के पुरुषों की चर्चा है। सूत्रकार ने एक व्यवस्थित वर्गीकरण करके उन पुरुषों के चरित्र का निरूपण किया है। उस वर्गीकरण की एक शैली है, जो विकल्प-प्रधान है। दो, तीन, चार, पांच आदि विकल्पों के द्वारा व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप निरूपण का वह क्रम जितना रोचक है, उतना ही ज्ञानवर्द्धक है। उस सूत्र के चौथे विभाग में सेकडों चौभगियां है। एक चौभगी के अनुसार पुरुष चार प्रकार के होते हैं–

१ उदितोदित।

२. उदित-अस्तमित।

३. अस्तमित-उदित।

४ अस्तमित-अस्तमित।

उदितोदित वे व्यक्ति होते हैं जो अपने जीवन के प्रारंभकाल में चमकते है और अन्त तक चमकते रहते हैं। इस विकल्प का उदाहरण है भरत चक्रवर्ती। भरत का जीवन शुरू से ही यशस्वी था। वह विद्या, कला, वल, राज्य-सचालन आदि कामों में जितना निष्णात था, उतना ही निष्णात अध्यात्म के क्षेत्र मे था। लौकिक दृष्टि से चक्रवर्ती सम्राट बनकर वह शिखर तक पहुच गया। इसी प्रकार लोकोत्तर क्षेत्र में वीतरागता का वरण कर वह विकास की आखिरी सोपान पर आरूढ़ हो गया।

दूसरा विकल्प है उदित-अस्तमित। इसमें जीवन का पूर्व पक्ष उज्ज्वल

होता है, पर उत्तर पक्ष कालिमा से भर जाता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इसका उदाहरण है। वह पूर्वजन्म में किए गए निदान के कारण प्रारंभ से अन्त तक सांसारिक कामभोगों में आसक्त रहा। अनुत्तर कामभोगों को भोगकर वह अनुत्तर नरक को प्राप्त हुआ।

तीसरा विकल्प है अस्तमित-उदित। इसमें जीवन का पूर्वपक्ष धूमिल होता है, पर उत्तरपक्ष उज्ज्वल हो जाता है। चण्डालपुत्र हरिकेशबल प्रारंभ में बहुत गुस्सैल था। इस कारण उसे अपने साथियों से अपमानित होना पड़ा और प्रतिकूल परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। सांप और अलसिए की एक घटना ने उसको प्रेरित किया। उसने अपना जीवनक्रम बदल लिया। जीवन के उत्तरार्द्ध में सयम और तप से स्वयं को भावित कर उसने अपनी मंजिल प्राप्त कर ली।

चौथा विकल्प है अस्तमित-अस्तमित। इस विकल्प में जीवन सदा बुझा-बुझा रहता है। इसमें किसी प्रकार के उत्कर्ष का अवसर नहीं मिलता। कालसौकरिक कसाई की गणना ऐसे व्यक्तियों मे होती है। वह बचपन में जितना क्रूर था, उम्र की आखिरी सीढ़ी पर चढ़ने तक उतना ही क्रूर बना रहा। राजा की ओर से विवश करने पर भी वह अपने जीवन की दिशा नहीं बदल सका। एक दिन के लिए भी उसके मन मे करुणा का झरना नहीं फूट सका।

सिद्धान्तवादी व्यक्तित्व

आचार्य भिक्षु का जीवन उदितोदित था। वे सिंह स्वप्न के साथ अपनी मां के गर्भ में आए और अंतिम क्षण तक सिहं-गर्जना करते रहे। वे गृहस्थ जीवन में पूरी तरह यशस्वी होकर रहे। मुनि जीवन में भी उनका वर्चस्व सदा वढ़ता रहा। वे एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। समझपूर्वक स्वीकृत सिद्धान्त को निभाने के लिए वे व्यवहार को भी गौण कर देते थे। रूढ़िवाद में उनकी आस्था नहीं थी। अपने गृहस्थ जीवन में वे विवाह के वाद ससुराल गए। भोजन का समय हुआ। खाने के लिए थालियां परोसी गई। वे भोजन करने वैठे। खाना शुरू करने से पहले ही गालियां गायी जाने लगी। दामाद भोजन करे, उस समय गालियों के गीत गाने की परंपरा प्रचलित थी। स्त्रियों ने गीत शुरू किया। उसके वोल कान में पड़ते ही वे उठ खड़े हुए। ऐसी

गलत रूढ़ियों के परिवेश में बिना खाए ही-वहां से चले गए। इस घटना में उनका अहं नहीं, सिद्धान्त के प्रति प्रगाढ़ आस्था बोल रही है।

सत्य के महान खोजी

आचार्य भिक्षु सत्य के अन्वेषक थे। मुनि जीवन स्वीकार करने से पहले उन्होने तत्कालीन अनेक सम्प्रदायों से संपर्क किया। इसके पीछे एक ही दृष्टिकोण था—सत्य की खोज। साधु बनने के बाद भी उनकी खोज जारी रही। आगमों को बार-बार पढ़ने का उद्देश्य क्या था? शास्त्रों में निहित सचाई को वे जीवन में देखना चाहते थे। इस सत्य का दर्शन न होने पर उन्होंने धर्मक्रान्ति की। मुसीबतों को आमंत्रित करना उनका लक्ष्य नहीं था। किन्तु सत्य की खोज करते समय उपस्थित मुसीबतों को गले लगाने में भी उनको कोई संकोच नही था। वे एकमात्र सत्य के प्रति समर्पित थे। इसी कारण उनकी चेतना में कहीं आग्रह की अकड़ नहीं थी।

एक बार कुछ दिगम्बर जैन आचार्य भिक्षु के पास आए। उनकी आचार-निष्ठा से वे प्रभावित हुए। कुछ समय बात करने के बाद वे बोले—'महाराज! आपका आचार और अधिक चमक उठे, यदि आप वस्त्र न पहने।' इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा—'आप लोगों की भावना अच्छी है, पर मुझे श्वेताम्बर आगमों में विश्वास है। उन्हीं के आधार पर मैंने घर छोडा है। उनके अनुसार मुनि वस्त्र रख सकता है। इसीलिए मैं वस्त्र रखता हूं। यदि मुझे दिगम्बर आगमों में विश्वास हो जाए तो उसी समय वस्त्रों को फेंक दूं, नग्न हो जाऊं।'

ऐसी दो टूक बात वही साधक कह सकता है, जो केवल सत्य के लिए जीता है। आचार्य भिक्षु की सत्यनिष्ठा को याद करते समय एक विचारक की कुछ पक्तियां बार-बार मस्तिष्क मे कौंध जाती है। उसने लिखा है—'महान वे नहीं है, जिनके पास असीम वैभव, नाम और यश है। महान वे है, जिन्होने सत्य को पा लिया और किसी भी मूल्य पर उसका सौदा करने के लिए तैयार नही होते। उनको शारीरिक यत्रणा पहुंचाई जा सकती है, उनकी आत्मा को खरीदा नहीं जा सकता।'

आचार्य भिक्षु कोई वैभव-संपन्न व्यक्ति नहीं थे। राजसत्ता की दृष्टि से उनका नाम बहुत ऊंचा नही था। उनकी पहचान भी सीमित

से थी। फिर भी वे धर्म-सम्प्रदायों के क्षितिज पर चमक उठे। क्योंकि उन्होंने सत्य की खोज में अपना सब कुछ खो दिया था। उनको सत्य के रास्ते से विचलित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए गए, पर वे झुके नहीं। उन्हे शारीरिक और मानसिक यंत्रणाओं के दौर से गुजरना पड़ा, पर वे कहीं रुके नहीं। उन्हें सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से वंचित होना पड़ा, पर वे मुड़े नहीं। उनके सामने एक ही सूत्र था—सत्य से साक्षात्कार। सत्य की दिशा में आगे बढ़ने के सब रास्ते बन्द होने पर भी वे पीछे नही लौटे। उन्होंने धारणाओं की दीवार को तोड़कर रास्ता बनाया। उस रास्ते पर वे अविश्रान्त भाव से बढ़ते रहे। वे सत्य के लिए जीए। वे सत्य बनकर रहे। सत्य की उपलब्धि उनकी अंतिम मंजिल थी।

महावीर वाणी में सत्य का दर्शन

सत्यद्रष्टा आचार्य भिक्षु ने ईस्वी सन् १७६० में आचार-शुद्धि का अभियान चलाया। उनका अभियान चल सकेगा, इस सम्बन्ध में वे स्वयं संदिग्ध थे। इसी दृष्टि से उन्होने तपस्या का क्रम शुरू किया। तपस्या के तेज ने सन्देह का कीचड सुखा दिया। उन्हें जनजागरण में अपनी क्षमता नियोजित करने की प्रेरणा मिली। जनता को सत्य से परिचित कराना उन्हें अभीष्ट था। इसके लिए वे एकान्त से पुनः भीड़ में आए।

आचार्य भिक्षु आगतजीवी नहीं थे। त्रिकाल की व्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर वे अपने कदम उठाते थे। उनके सामने साधना का विशिष्ट उद्देश्य था। इस उद्देश्य को वे गिरि-कन्दराओं में बैठकर पूरा कर सकते थे। पर साधना के साथ संगठन को जोड़ने की कला उनको भगवान् महावीर से विरासत मे मिली थी। भगवान् महावीर के प्रति उनके मन में आस्था का जो दीप जल उठा था, वह किसी भी किनारे से खडित नहीं था। अखण्ड व्यक्तित्व के प्रति समर्पित अखण्ड आस्था ने उनका सत्य से साक्षात्कार कराया।

उन्होंने महावीर वाणी मे सत्य को खोजा। साधना एवं पुरुपार्थ के वल पर उसे आत्मसात् किया और लोककल्याण की मंगल भावना से प्रेरित होकर उसे वांटा। सत्य शाश्वत होता है। व्यवस्था परिवर्तनशील होती है। उन्होंने उस समय जिस सत्य का निरूपण किया, वह आज भी उतना ही

सत्य है। दो शताब्दियो के अंतराल में समय की धूल उस सत्य को अंश रूप में भी धूमिल नहीं कर सकी है। उन्होंने उस समय जो मौलिक संस्थापनाएं की, आज की कसौटी पर वे बराबर खरी उतरी हैं। उनकी स्थापनाओं के कुछ बिन्दुओं पर यहां विमर्श करना है।

सार्वभौम धर्म

सम्प्रदाय और धर्म, ये दो भिन्न तत्त्व है। सम्प्रदाय शरीर है और धर्म प्राण है। कुछ लोग सम्प्रदाय को ही धर्म मान लेते हैं। वे एक सीमारेखा खींचते हैं और उस रेखा के अन्दर ही धर्म होने का दावा करते हैं। उन्हे अपने सम्प्रदाय मे सत्य का दर्शन होता है। वे उन्हीं लोगों को धार्मिक मानते हैं और धर्म करने का अधिकार देते हैं, जो उस सम्प्रदाब की सीमा में आ जाते है। आचार्य भिक्षु ने इस अवधारणा के विरोध में आवाज उठाई। उन्होने कहा—'धर्म सम्प्रदाय की सीमा मे कैद नहीं हो सकता। किसी भी जाति और वर्ग का व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है। हमारी आस्था जैन धर्म मे है। जैन धर्म के अनुसार अहिसा, संयम, ब्रह्मचर्य, तप आदि का आचरण धर्म है। ऐसा आचरण एक जैन कर सकता है, वैसे ही अजैन भी कर सकता है। एक जैन अहिंसा का पालन करता है, वह धर्म है और अजैन की अहिंसा धर्म नही है, कोई व्याप्ति नही बनती है। व्याप्ति यह है कि जहा अहिंसा है, वहां धर्म है। उस धर्म का आराधक कोई भी हो सकता है। उसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।'

आचार्य भिक्षु की इस अवधारणा ने एक मिथ्यात्वी व्यक्ति को धर्म का अधिकार दे दिया। उस समय के परम्परावादी लोगों ने इस बात का विरोध किया। विरोध की जमीन इतनी पोली थी कि वह उसी में धंसकर रह गया। आचार्य भिक्षु द्वारा दृढ़ता के साथ निरूपित उस सत्य को आधार बनाकर हमने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। सार्वभौम धर्म की घोषणा का ही एक व्यावहारिक रूप है अणुव्रत। इसने सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी, आस्तिक और नास्तिक सबको धर्म करने का अधिकार दे दिया। तथाकथित धार्मिक लोग चौके। उन्होने अणुव्रत का विरोध किया। पर अणुव्रत मे उस शाश्वत सत्य का प्रतिबिम्ब था, जिसकी स्थापना आचार्य भिक्षु ने की थी। अणुव्रत के व्यापक प्रभाव को देखकर कहा जा सकता है कि सार्वभौम धर्म

की बात उस समय जितनी प्रासंगिक थी, आज उससे भी अधिक प्रासंगिक है। जिन लोगों की धर्म, कर्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि में आस्था नहीं है, वे साम्यवादी कहे जाने वाले लोग भी अणुव्रत की परिभाषा के अनुसार स्वयं को धार्मिक मानने के लिए तैयार हैं। अणुव्रत को आधुनिक रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय हमें दिया जाता है, पर यह दर्शन आचार्य भिक्षु का है, भगवान् महावीर का है। इस दर्शन की सार्वभौम सत्ता को बदलना किसी के लिए भी संभव नहीं है।

अनुशासन का मूल्य

आचार्य भिक्षु ने साधना को संगठन के साथ जोड़ा और उसे ऐसे मजबूत सांचे में ढाला, जिसको कोई हिला नहीं सकता। उन्होंने कहा—'साधना अकेला व्यक्ति भी कर सकता है और समूह में भी कर सकता है। समूहगत साधना में सबसे कठिन तत्त्व है अनुशासन। परिवार, समाज या राष्ट्र, समूह चेतना के किसी भी स्तर पर सफल जीवन वही जी सकता है, जो अनुशासन में रहना जानता है। अनुशासनहीनता हर युग की गंभीर समस्या है। बौद्धिकता के साथ तर्क की क्षमता बढती है। जहां तर्क की सत्ता है, वहां प्रश्न उठेगा कि कोई व्यक्ति किसी के अनुशासन में क्यों रहे? पारिवारिक विघटन, सामाजिक टूटन और राष्ट्रीयता के बिखराव में यही भावना काम कर रही है। जहां अनुशासन के संस्कार न हों, अनुशासन के प्रति आस्था न हो और अनुशासन के परिणाम मे विश्वास न हो, वहां सामूहिक जीवन भी समस्या बन जाता है।'

अनुशासन में रहना जितना कठिन है, अनुशासन करना भी उतना ही कठिन है। कभी-कभी तो अनुशासन करने में ज्यादा मुश्किलें खड़ी हो जाती हैं। वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में यह तथ्य सही प्रतीत होता है। आज स्कूलो में विद्यार्थी समस्या बन रहे हैं। कार्यालयों में कर्मचारी समस्या वन रहे हैं, उद्योग-धन्धों में श्रमिक समस्या वन रहे हैं, परिवार में वहू-वच्चे समस्या वन रहे हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है? किसी एक पक्ष की कमी बताना एकांगी आग्रह हो सकता है। मूलभूत कठिनाई यह है कि अनुशासन करने और अनुशासन में रहने की कला का प्रशिक्षण नहीं मिल रहा है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन को संगठन का अनिवार्य पहलू बताया। उन्होंने कहा—'आत्मशुद्धि के लिए अनुशासन जितना जरूरी है, संगठन की दृढता के लिए भी उसका उतना ही मूल्य है। कोई भी संघ या संगठन तब तक चल सकता है, जब तक उसके सदस्य संघीय अनुशासन का पालन करते हैं। आचार्य भिक्षु के सामने एक प्रश्न आया—महाराज! आपका यह मार्ग कब तक चलेगा? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में कहा—इसका अनुगमन करने वाले साधु-साध्वी जब तक आचार और श्रद्धा में सुदृढ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगे और स्थानक बांधकर नही बैठेंगे, तब तक यह मार्ग चलेगा।

यह प्रसंग मर्यादा या अनुशासन के सर्वोपरि महत्त्व को प्रकट करने वाला है। तेरापथ धर्मसघ में अनुशासन केवल विधान की वस्तु कभी नहीं बना। सभी आचार्यो ने अपने युग में अनुशासन के प्रति हुई छोटी-से-छोटी उपेक्षा का दृढ़ता से प्रतिकार किया। इससे साधु-साध्वियों के मन में अनुशासन के प्रति आस्था का भाव प्रगाढ़ होता रहा। संघ के प्रारम्भ में साधु-साध्वियो की संख्या बहुत कम थी। किन्तु आचार्य भिक्षु ने गुणात्मकता के सामने संख्या को महत्त्व कभी नही दिया।

एक बार की घटना है, आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिए आवाज दी। उनकी ओर से कोई उत्तर नही मिला। दो-तीन बार इस क्रम को दोहराया गया। पर न तो मुनि वेणीरामजी आए और न उन्होंने कोई उत्तर ही दिया। आचार्य भिक्षु सचेत हो गए। पास ही बैठे श्रावक गुमानजी लूणावत की ओर अभिमुख होकर वे बोले—'लगता है, वेणीराम सघ से अलग होगा।' गुमानजी तत्काल उठे। वे सामने वाली दुकान में गए, जहां वेणीरामजी बैठे थे। उन्होने उनको सारी बात सुनाई। मुनि वेणीरामजी उसी क्षण उठे और आचार्य भिक्षु के पास पहुंचे और वन्दना करने लगे। आचार्यवर बोले—'बुलाने पर भी नहीं बोलता।' मुनि वेणीरामजी ने कहा—'गुरुदेव! आपका शब्द सुनकर बैठा रहूं, यह कैसे हो सकता है? मेरे कारण आपको कष्ट करना पड़ा, इसका मुझे दुःख है। मैने आपका शब्द सुना ही नही था।' मुनि वेणीरामजी ने अपने विनम्र व्यवहार से गुरु को प्रसन्न कर लिया। इस घटना ने सब साधुओ को विशेप रूप से जागरूक कर दिया।

आचार्य भिक्षु के बाद उत्तरवर्ती आचार्यों के समय में भी जिस किसी ने अनुशासन के प्रति लापरवाही बरती, उसे समुचित बोधपाठ मिला। यही कारण है कि अनुशासन की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है। स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले इस युग में, जबकि एक पुत्र अपने पिता के अनुशासन में रहने के लिए राजी नहीं है, सैकड़ो साधु-साध्वियां एक आचार्य के अनुशासन में रहते हैं, इसे अन्य लोग आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं।

यहां प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है, जो पूरे धर्मसंघ को एक सूत्र में पिरोए हुए है? अनुशासन की डोर से बांधे हुए है? इस सन्दर्भ में कई बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं—

- अनुशासन आरोपित नहीं है, हृदय से स्वीकृत्ति है।
- जो अनुशासन में रहता है, सुखी होता है, इस प्रकार के सस्कार जीवित है।
- कठोर-से-कठोर अनुशासन के पीछे संयम की विशुद्धि और व्यवहार-शुद्धि का लक्ष्य रहता है।
- किसी भी अनुशासनात्मक कार्यवाही में व्यक्ति को नहीं, उसकी गलती को गलत मानने का दृष्टिकोण होता है। इससे गलती सुधरने के बाद व्यक्ति को मानसिक रूप से प्रताड़ित रहने का अवसर नही आता।
- अनुशासन की दृष्टि से संघ के किसी भी सदस्य को कोई छूट नहीं है।
- अनुशासनहीनता के दुष्परिणाम सबके सामने हैं।
- ज्ञान और तपस्या की अल्पता में भी अनुशासननिष्ठ व्यक्ति को महत्त्व मिलता है।
- अनुशासन और विनय का अद्भुत सामंजस्य है।
- व्यक्तिगत प्रतिशोध या द्वेषभावना से कोई भी अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं होती ।

इस प्रकार की और भी कुछ वाते हैं, जो संघीय अनुशासन को दृढ-से-दृढ़तर वनाती जा रही है। आज का संसार तेरापंथ धर्मसंघ से एक अनुशासन का सूत्र सीख ले तो अनेक समस्याओं को सहज समाधान मिल सकता है।

एक ओर कठोर अनुशासन, दूसरी ओर सबको स्वतंत्र चिन्तन का अधिकार। आचार्य भिक्षु ने अपने चिन्तन को कभी संघ पर थोपा नहीं। उन्होने तेरापंथ की स्थापना के पन्द्रह वर्ष बाद सन् १७७५ में प्रथम मर्यादापत्र लिखा। उस समय तक उनका वर्चस्व स्थापित हो चुका था। वे चाहते तो 'आज्ञा गुरूणाम-विचारणीया'—गुरु की आज्ञा होने के बाद कोई वितर्क नहीं हो सकता, इस प्रकार कहकर संविधान को लागू कर सकते थे। किन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया। वे विचार स्वातंत्र्य के समर्थक थे। उन्होने महावीर वाणी में पढ़ा था—'मइमं पास'। महावीर ने अपने शिष्यों से कहा—'तुम्हारे पास मति है। तुम मननशील हो। मैं जो कुछ कह रहा हूं, उसे केवल आस्था के आधार पर स्वीकार मत करो। उस पर चिन्तन-मनन करो और तुम्हारी समझ मे आ जाए तो स्वीकार करो।'

आचार्य भिक्षु ने अपने ज्ञान और अनुभवो के योग से संविधान लिखा। उन्होने एक-एक साधु को बुलाकर सविधान पढ़ने के लिए कहा। उसे पढने के बाद किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति न होने पर उसे संघ मे लागू किया। यह शैली उन्होंने अपने जीवन के अन्त तक निभाई। सन् १८०२ मे आचार्य भिक्षु ने अतिम मर्यादापत्र लिखा। उसी के आधार पर मर्यादा-महोत्सव का ऐतिहासिक समारोह आयोजित होता है। उस मर्यादापत्र पर अनेक साधुओ के हस्ताक्षर है। वे हस्ताक्षर इस तथ्य के प्रतीक हैं कि एक-एक साधु ने उन मर्यादाओ को पढ़कर, उन पर मनन कर अपनी स्वतंत्र इच्छा से उन्हे स्वीकार किया था। जिन मर्यादाओं को सोच-समझकर अपनी सहमति दी, वाद मे उनकी छीछालेदर करना या अवहेलना करना आचार्य भिक्षु को कभी मान्य नही था। इसलिए उन्होंने कहा—'जिसका आन्तरिक विचार स्वच्छ हो, वह इस मर्यादापत्र पर हस्ताक्षर करे। इसमें शर्मा-शर्मी का कोई काम नहीं है। मुंह पर और तथा मन मे और, यह साधु के लिए उचित नही है।

श्रद्धा, आचार या परम्परा की कोई बात किसी साधु की समझ मे न आए तो उसे आचार्य या बहुश्रुत साधु के पास समझने की इजाजत दी गई है। पर सदिग्ध अवस्था में संघ में रहने की इजाजत नही दी गई। आचार्य या वहुश्रुत साधु के पास चर्चा करने पर भी कोई बात गले न उतरे, उसे

केवलिगम्य करने का परामर्श दिया गया है। किन्तु किसी पर कुछ भी थोपने का उपक्रम मान्यं नहीं हुआ। वडी-बड़ी संस्थाओं और पार्टियों में इस नीति को काम में लिया जाए तो संभवतः मनोभेद की परिस्थिति उत्पन्न न हो। किन्तु जहां नेता अथवा कार्यकर्ता अपने विचारो को दूसरो पर थोपने की कोशिश करता है। वहा संस्था और पार्टी की एकता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

साधन-शुद्धि का सिद्धान्त

आचार्य भिक्षु की मेधा सूक्ष्म थी। वे हर तत्त्व को उसकी गहराई मे बैठकर पकड़ते थे। उन्होंने साध्य-साधन की एकता को जिस सूक्ष्मता से विश्लेषित किया, कोई असाधारण व्यक्ति ही कर सकता है। लोकोत्तर दृष्टि से मनुष्य का अंतिम साध्य होता है मोक्ष। मोक्ष की प्राप्ति के लिए संसार बढाने वाले साधनों का उपयोग सम्मत कैसे हो सकता है? मोक्ष की साधना आत्मशुद्धि से होती है। आत्मशुद्धि का साधन है धर्म। धर्म वह है, जो अहिसा, सयम और तप के आचरण से होता है। धर्म के लिए हिंसा की संगति बैठ ही नहीं सकती। उस समय कुछ ऐसी मान्यताएं प्रचलित थीं, जो धर्म को हिंसा के साथ जोड़ रही थीं। इसी मान्यता के आधार पर मिश्र धर्म की परम्परा प्रचलित हुई। आचार्य भिक्षु ने इसका यौक्तिक निरसन करते हुए कहा—'जैसे धूप और छाया का कभी मिश्रण नहीं होता, वैसे ही दया और हिंसा का मिश्रण नही हो सकता। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कभी मिल नही सकते, वैसे ही दया और हिसा में कभी मेल नही हो सकता।'

इसी शृंखला में अल्प पाप बहुत निर्जरा का सिद्धान्त प्रचलित था। किसी व्यक्ति को लड्डू खिलाने में पाप है, पर बाद में वह उपवास करेगा, उससे बहुत धर्म होगा, इसी प्रकार हिसा, असत्य आदि अठारह पापों का सेवन कर जीवों को बचाने मे पाप कम होता है और धर्म अधिक होता है। आचार्य भिक्षु ने ऐसी प्रवृत्तियो को कभी धर्म की संज्ञा नही दी। उन्होंने कहा—'मोक्ष का साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। जो मोक्ष का साधन है, वही धर्म हो सकता है। धर्म के क्षेत्र में प्रलोभन और भय दोनो का स्थान नही है। धर्म का सीधा संवंध है हृदय-परिवर्तन से। आदमी का मन वदलता है तो गलत काम अपने आप छूट जाते हैं।

आज के युग मे भी ऐसे बहुत लोग हैं, जो आदर्श की बाते करते हैं। देश में समाजवाद लाना, भ्रष्टाचार दूर करना, नीतिहीन व्यक्तियों को सत्ता से च्युत करना आदि ऐसे नारे है, जो सुनने में बडे मीठे लगते हैं पर हवा के झोंके के साथ ये नारे ऊपर-के-ऊपर निकल जाते हैं। क्योकि ऐसे नारे लगाने वाले लोग भी अपना काम करने के लिए भ्रष्ट तरीके काम में लेते हैं, नीति से हटकर काम करते हैं। यह स्थिति किसी व्यक्ति, वर्ग या दल तक सीमित नहीं है, ऊपर से नीचे तक यही क्रम चल रहा है। ऐसी स्थिति में साधनों की शुद्धि पर ध्यान दिया जाए तो काम करने मे काफी सुविधा रह सकती है।

महासेतु को प्रणाम

आचार्य भिक्षु महासेतु थे। दृढ़ सिद्धान्तवादी होने के बावजूद वे आग्रही मनोवृत्ति से मुक्त थे। निश्चय और व्यवहार दोनों को आधार मानकर उन्होंने सत्य और संगठन को एक साथ जोड़ा। शाश्वत के प्रति वे पूरी तरह समर्पित थे। पर सामयिक सत्य को उन्होंने कभी उपेक्षित नहीं किया। उनके मन मे न प्राचीनता की पकड़ थी और न नये का व्यामोह था। आवश्यकता और उपयोगिता के आधार पर वे दोनों को स्वीकार करते थे। कठोरता और कोमलता का उनमें अद्‌भुत सामंजस्य था। एक ओर वे गंभीर सिद्धांतो के प्रखर प्रवक्ता थे तो दूसरी ओर उतने ही विनोदप्रिय थे। उनकी चेतना मे स्वार्थ नाम का तत्त्व नहीं था, पर वे अवसर को पहचानते थे। उनका जीवन और दर्शन दो शताब्दी बाद भी उतना ही प्रासगिक है, जितना उनके अपने समय में था। इसीलिए इस युग के विद्वानों को उनमे काण्ट का दर्शन होता है।

आचार्य भिक्षु इसलिए प्रणम्य नहीं हैं कि वे हमारे गुरु थे। उनका महत्त्व इसलिए भी नही है कि उन्होंने एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया। उनकी स्मृति इसलिए नहीं होती है कि उन्होंने समस्याओ के दुस्तर सागर को हंसते-हंसते पार किया। उनको हम याद करते हैं, सत्य के प्रति उनके सम्पूर्ण समर्पण के लिए, उनको हम प्रणाम करते हैं, उनकी लोकोत्तर निष्ठा के लिए और उनको हम महत्त्व देते है, उन शाश्वत सिद्धांतो का निरूपण करने के लिए जो आज भी हमको रास्ता दिखाते हैं, आगे बढ़ने का साहस

देते हैं और हमारी हर समस्या का समाधान करते हैं। आचार्य भिक्षु ने जिन आदर्शों के लिए संघर्ष का पथ चुना, वे आदर्श हमारे आदर्श है। उन आदर्शों तक पहुचने का हमारा संकल्प कभी क्षीण न हो। वे आदर्श आने वाली पीढ़ियों के लिए भी आदर्श बने रहें और हर पीढ़ी वहां तक पहुचकर कृतार्थता का अनुभव करे।

मर्यादा की मर्यादा

मर्यादा गण को धारण करती है और उसे धारण करता है विश्वास। श्वास न हो और चैतन्य हो यह जैसे असम्भव है, वैसे ही विश्वास न हो और मर्यादा हो यह भी सम्भव नहीं है। मर्यादा और कुछ नहीं है, अपना विश्वास ही है। हमारा गण मर्यादाओं का पालन इसीलिए तो करता है कि उसका उनमें विश्वास है। प्रश्न होता कि विश्वास किसके प्रति हो? मेरी मान्यता है कि वह मूल में अपने प्रति होना चाहिए। आचार्य, गण और सहयोगियों के प्रति विश्वास तभी हो सकता है, जब कि अपने प्रति हो। अपने-आपको ठगकर ही मनुष्य दूसरो के प्रति वंचना का व्यवहार करता है। वहां सारी मर्यादाएं टूट जाती हैं। इसलिए मै आत्मविश्वास को मर्यादा की मर्यादा मानता हूं। मैं देश-काल की सीमाओं को देख कभी-कभी मर्यादाओ के आकार-प्रकार में परिवर्तन भी ला देता हूं परन्तु विश्वास में परिवर्तन लाना कभी नहीं चाहता। पूर्वाचार्यो के प्रति, उनकी कृतियों के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने को जैसे मैं क्षम्य नहीं मानता वैसे ही उनके व्यक्तित्व को सीमित बनाने के प्रयत्न को भी मै क्षम्य नहीं मानता।

व्यक्ति का अपना-अपना विश्वास होता है, इसीलिए कोई सोचता है—मर्यादाएं कम हों और कोई चाहता है—कम न हों। किसी की रुचि परिवर्तन मे है, किसी की नहीं है। अनेक व्यक्ति हैं, अनेक रुचियां है और अनेक संस्कार हैं। उन सबमें एकत्व बनाए रखना, यह मेरी है। मैं किसी में भी अविश्वास उत्पन्न करना नहीं चाहता, इसलिए मुझे परिवर्तन ही प्रिय है और न स्थिरता ही। परिवर्तन के स्थिरता में विश्वास बनाए रखना चाहता हूं और स्थिरता के

परिवर्तन में विश्वास करता हूं।

आचार्यत्व के नाते मैं किसी भी पूर्वज आचार्य को अपने से भिन्न नहीं मानता। पूर्वज आचार्यो के प्रति विश्वास हो और वर्तमान में न हो, वर्तमान में विश्वास हो और पूर्वजों के प्रति न हो, इन दोनों धाराओं को मैं दिग्भ्रांत मानता हू। सूत्र नये और पुराने दोनो प्रकार के मनकों को एक साथ पिरोए रहता है। वह किसी का भी नहीं होता और उन सबका होता है, जो मालाकार बने रहना चाहते हैं।

तेरापंथ अपनी मर्यादा-निष्ठा के लिए प्रसिद्ध है। युग का प्रवाह मर्यादा के अनुकूल नही है। यह अधिकारों की मांग का युग है। विचारों का जागरण हुआ है। सब लोग अपनी विचारधारा को प्रधानता देते हैं। दूसरों के विचारों में अपने विचारो को विलीन करने को उपादेय नहीं माना जाता। इस स्थिति में मर्यादा-निष्ठा सचमुच अचरज की वस्तु है।

आचार्य भिक्षु के साधना-बल और आचार्य के बुद्धिबल का प्रभाव है कि हमारा सुशिक्षित संघ भी मर्यादाओं के प्रति आस्थावान, विनयशील है। जो समाज अनुशासित नहीं होता, वह प्रगति नहीं कर सकता। हमारी प्रगति का मूलमंत्र यही मर्यादा-निष्ठा है।

हमने संयम को अपनी साध्य-सिद्धि का साधन माना है। असंयम शरीर, वाणी और मन के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इन तीनो का संयम करना, इन्हें 'आचार्य को सौंप देना कितना बड़ा त्याग है। इससे अधिक मनुष्य के पास है ही क्या, जो उसका समर्पण करे? मैं नही मानता कि संयम और समर्पण दो हैं।

शिष्य समर्पण के द्वारा आचार्य से अभिन्नता प्राप्त करते हैं और आचार्य उस समर्पण को स्वीकार कर उनसे अभिन्न बनते हैं। समर्पण करना जितना कठिन है, उससे कहीं अधिक कठिन है समर्पण को स्वीकार करना, उनकी सारी चिन्ताओ को अपने सिर पर ओढ़ लेना। उनके हित-सम्पादन के लिए अपने शरीर, वाणी और मन का समर्पण करना भी कम त्याग नहीं है। इस प्रकार दोनों ओर से समर्पण होता है तभी मर्यादाओं मे सजीवता आती है।

दायित्व आचार्य पर वहुत बड़ा है, पर छोटा शिष्य-समुदाय का भी नही। अनुशासन करना, शिष्यों के उल्लास को उन्मुक्त रखना और निरंकुश न होने देना, यह अनुशास्ता की कसौटी है। अनुशासन को मानना, उद्दण्ड

या हीन भावना को न पनपने देना, आचार्य के उल्लास में विघ्न न बनना, यह शिष्यो की कसौटी है।

भय यद्यपि वांछनीय नही है किन्तु अनुशासन का भय न हो, यह सर्वथा अवांछनीय है। कोई भी व्यक्ति अनुशासित रहकर न स्वयं अभय बन सकता है और न दूसरों को भी भय-मुक्त कर सकता है।

अनुशासन की स्वस्थता के लिए मैं सोचता हूं और जैसे-जैसे अहिंसा का विकास और अनुभव का परिपाक होता है, वैसे-वैसे तीव्र अनुभूति के साथ सोचता हू कि आचार्य को शिष्यों में ये भाव नहीं पनपने देने चाहिए :

१. हमारी उपेक्षा होती है।

२. न्याय नहीं हो रहा है। बड़ों के लिए छोटों के साथ न्याय नहीं हो रहा है।

३. गलती का उचित प्रतिकार नहीं हो रहा है।

४. अनुशासन को भंग कर देने पर भी वे बच सकते हैं।

शिष्यो का भी यह कर्तव्य है कि वे आचार्य के मन में ऐसे भाव उत्पन्न न होने दे :

१. विनय नहीं कर रहे है।

२. आज्ञा की सम्यक् आराधना नहीं कर रहे हैं।

३ मर्यादाओं का सम्यक् पालन नहीं कर रहे हैं।

४. सामुदायिकता की अपेक्षा वैयक्तिकता को अधिक महत्त्व दे रहे है।

आचार्य भिक्षु ने जो रेखा खींची है वह बहुत बड़ी है। उसे छोटी करने वाला कोई नहीं दिखाई देता। उसे बड़ी ही रहने दे, यह हमारा धर्म है। इस धर्म की आराधना करके ही हम मर्यादा का सम्मान कर सकते हैं।

विसर्जन का प्रतीक मर्यादा-महोत्सव

तेरापंथ सु-अनुशासित संघ है। उसकी पहली ईंट अनुशासन की आंच में पककर आयी और उसकी पुताई भी अनुशासन के रंग से हुई है। ऐसा क्यों हुआ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर और अधिक स्वाभाविक हैं। यह सब इसलिए हुआ कि इसके नेता सदा जागरूक रहे हैं और हैं। उनमे जयाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी जागरूकता 'देहली दीपक न्यायेन' अतीत और वर्तमान दोनों को आलोकित करती रही है। उन्होंने संगीत की स्वर-लहरी में जिन भावों को बांधा उनमें एक अमिट प्रेरणा है। उसकी लौ अनगिन झंझावातो से जूझकर भी प्रदीप्त रहने में सक्षम है। जयाचार्य कलाकार थे। उनकी कला में आचार्य भिक्षु की सृष्टि केवल प्रतिबिम्बित ही नहीं हुई, प्राणवान भी हुई है।

अनुशासन की प्राणशक्ति है—ममत्व-विसर्जन। मुनि का यह प्राचीन आदर्श है। आगम वाणी है—'ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा'—मुनि कहीं भी ममत्व न करे। आचार्य भिक्षु ने इस आदर्श को व्यवस्था से अनुप्राणित कर दिया। ममत्व हो सकता है शिष्यों पर, पुस्तक-पन्नों पर और विहार-क्षेत्रों पर। उसे मिटाया जा सकता है आदर्श की प्रेरणा से और व्यवस्था से। आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था की और जयाचार्य ने उसे विस्तार दिया। आचार्य भिक्षु ने लिखा—पुस्तक आदि सब धर्मोपकरण गण के निश्चित हैं। किसी व्यक्ति का उन पर अधिकार नहीं है। साधु-साध्वियों के पास जो उपकरण हैं, वे प्रातिहारिक हैं अर्थात् काम चलाने के लिए सौपे गए हैं। आचार्य जव चाहें तब वे वापस लिये जा सकते है। इस व्यवस्था को राजनीति के विद्वान् समाजवादी व्यवस्था कह सकते हैं। समाजवाद का यह प्रमुख सूत्र है—राज्य

की सम्पदा पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। इस व्यवस्था से आर्थिक समता भी फलती है और ममत्व-विसर्जन भी फलता है। यह सूत्र धर्म की भूमिका से दिया गया, तब उसके पीछे ममत्व-विसर्जन को व्यावहारिक रूप देने की भावना थी। राजनीति के मंच से सूत्र दिया गया तब उसके पीछे आर्थिक समानता को व्यावहारिक रूप देने की योजना थी। दोनों कल्पनाएं अपने-अपने ढंग से चलीं और विनम्रतापूर्वक कहा जा सकता है, विफल नहीं हुई।

आचार्य भिक्षु ने शिष्यों, पुस्तक-पन्नों और विहार-क्षेत्रो पर व्यक्तिगत स्वामित्व को मान्यता नहीं दी पर उस व्यवस्था को पूर्ण व्यावहारिक रूप लम्बे समय तक नहीं मिला। उन्होंने यह व्यवस्था की थी वि० स० १८३२ में और पूर्ण व्यावहारिक रूप मिला वि० सं० १६२१ में। इसका अर्थ यह हुआ कि ८६ वर्षो के बाद आचार्य भिक्षु का प्रयोग सफलता के चरम-शिखर पर पहुंच सका। इस मध्यावधि में आचार्य को वैधानिक अधिकार प्राप्त था कि वह साधु-साध्वियो और पुस्तक-पन्नों को आवश्यकतानुसार काम मे लें। साधु-साध्वियों को जहां चाहें वहां भेजें पर यह अधिकार जितना वैधानिक था उतना व्यवहारगत नहीं था।

जयाचार्य ने जब से शासन का दायित्व संभाला तब से उनके मन में एक अन्तर्द्वन्द्व था। वह यह कि हमारी वैधानिक स्थिति जितनी आदर्श के निकट है उतनी व्यावहारिक स्थिति नहीं है। उनका यह अन्तर्द्वन्द्व वर्षो तक चलता रहा। वे समय-समय पर उस दूरी को मिटाने का प्रयत्न करते रहे और इस प्रयत्न में तब सफल हुए जब उनके उर्वर मस्तिष्क में मर्यादा-महोत्सव की कल्पना उत्पन्न हुई। उन्होंने महोत्सव की स्थापना की, उससे पहले साधु-साध्वियों को प्रशिक्षित किया और उसकी सुदृढ भूमिका का निर्माण किया। उन्होंने वि० सं० १६१२ मे विरचित एक प्रशिक्षण गीत में लिखा ·

छांदै सुगुरु कै चालणो, चउमासो उतरियां चित चाह्या।
गुरु ने पहिलां पूछ्यां विण अन्य दिशा, विण मरजी न विचरै मुनिराया।।

चातुर्मास समाप्त होने पर आचार्य की आज्ञा लिये बिना किसी अन्य दिशा की ओर विहार न किया जाए। वि० सं० १६१४ में उन्होने आचार्य ि

विसर्जन : आन्तरिक आसक्ति का परित्याग

एक बार किसी नगर में बुद्ध का आगमन हुआ। नगरवासी बुद्ध के अनुरागी थे। वे बड़ी संख्या में उस उद्यान की ओर जाने लगे जहां बुद्ध ठहरे थे। मार्ग में सुदास नामक चमार एक बिना मौसम का खिला हुआ फूल बेचने के लिए बैठा था। वह फूल उसे उसी दिन सुबह एक छोटी-सी तलैया से मिला था। नगरसेठ उधर से गुजरा। उसने फूल का सौंदर्य देखा और खरीदने के लिए तत्पर हो उठा। वह स्वयं चमार के पास जाकर बोला—'फूल बेचना है! लो पांच रुपये और यह फूल मुझे दे दो।' नगरसेठ की बात पूरी हो, इससे पहले ही वजीर वहां पहुंच गया। वह पचीस रुपये देकर फूल खरीदने को तैयार हुआ। नगर सेठ उससे पांच गुणा देने का आग्रह करने लगा। सुदास ठगा-सा देखता रह गया। इसी बीच वहां सम्राट पहुंचा और वह पांच सौ रुपये देने लगा। सुदास इस रहस्य को समझ नहीं पाया कि आज उसके फूल का इतना मूल्य कैसे हो गया? उसकी विचार-मुद्रा देखकर सम्राट ने कहा—'लाख रुपया देकर भी फूल खरीदा जा सकता है।' जानकारी करने पर सुदास को पता चला कि आज शहर में भगवान् बुद्ध का आगमन हुआ है और उनके लिए इस कमल की कीमत लग रही है। एक बार उसके मन में आया—'इस बहुमूल्य कमल को बेचकर सदा-सदा के लिए अपना दारिद्र्य समाप्त कर दूं। उसके मुख से स्वीकृतिसूचक शव्द निकले, इससे पहले ही विचारों का प्रवाह बदल गया। वह साहस के साथ बोला—'आप सब चले जाइए, मुझे फूल नही बेचना है। मै स्वय जाकर इसे भगवान् के चरणो मे चढ़ाऊंगा।'

सुदास नागरिकों के साथ बुद्ध की प्रवचन-सभा में गया और अपने

अन्तःकरण की असीम आस्था के साथ उस खिले हुए कमल को भगवान् बुद्ध के चरण-कमलों पर निछावर कर दिया। प्रवचन के बाद बुद्ध ने सुदास से पूछा—'लाख रुपयों की कीमत मिल रही थी, फिर भी तुमने फूल क्यो नही बेचा?' सुदास विनम्र भाव से बोला—'भगवन! आपने अभी कहा था—'सम्पत्ति ही सब कुछ नही है।' बुद्ध ने वहा उपस्थित अपने शिष्यों को सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ! सुदास का त्याग कितना महान् है? अपनी जीविका-निर्वाह के लिए पर्याप्त साधन इसके पास नहीं है। आज वह साधन इसे सुलभ हो रहा था। पर यह अर्थ के साथ बधा हुआ नहीं है। आशसा-मुक्त होकर इसने अपनी सुविधाओं के स्रोत का विसर्जन किया है।'

लगभग ढाई हजार वर्ष प्राचीन यह घटना उन परिस्थितियों मे अधिक प्रेरणाप्रद बन जाती है जब मनुष्य मे आवश्यकता से अतिरिक्त संग्रह करने का और संगृहीत् अर्थ के प्रति गहरी आसक्ति का मनोभाव जागृत होता है। संसार मे जितने शरीरधारी प्राणी है, वे जीवन-निर्वाह के लिए खाद्य-सामग्री जुटाते है। आवास के लिए व्यवस्था करते हैं किन्तु संग्रह की मनोवृत्ति एकमात्र मनुष्य में है। कोई पशु दूसरे दिन के लिए भोजन बचाकर नहीं रखता, कोई पक्षी दो दिन का चुग्गा एक दिन मे इकट्ठा करके नहीं रखता। यही कारण है कि पशु-पक्षी जगत् मानसिक तनाव से मुक्त रहते है। प्रागैतिहासिक मनुष्य में भी संग्रह की भावना इतनी प्रबल नही थी। उस समय मनुष्य सुखी था, स्वस्थ था और निश्चिन्तता का जीवन जीता था। अधिक दौड़-धूप, अधिक संकल्प-विकल्प, अनिश्चिन्तता की वृत्ति आदि कुछ ऐसी बाते हैं, जो मनुष्य के जीवन मे संक्रात किसी अवांछनीय मनोवृत्ति की प्रतीक है।

मनुष्य की यह सहज वृत्ति हो गई है कि वह हर काम अपने सहज विवेक से नहीं करता। बाहरी दबाव या बाध्यता की स्थिति सामने आती है, तब उसे वह काम करना पड़ता है। विवेक से काम हो तो वह सहज बन जाता है। बाध्यता में कुछ कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है। बाध्यता से कोई अविवेकी प्राणी भी वह कर सकता है, जो मनुष्य को करना पड़ता है। पर इससे मनुष्य और पशु में अन्तर क्या रहेगा? करणीय और अकरणीय का विवेक ही तो मनुष्य को पशु जगत् से श्रेष्ठ बनाने वाला है।

का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने विवेक का विकास करे, सही चिन्तन का विकास करे और सही आचरण का विकास करे।

आज की हमारी चर्चा का विषय है—'विसर्जन'। विसर्जन अर्थात् छोड़ना, त्यागना, देना। विसर्जन किसका? इस प्रश्न के संदर्भ में थोड़ा गहराई से चिन्तन करना होगा। विसर्जन दो प्रकार से होता है। पहली कोटि का विसर्जन है मन और आत्मा पर गलत प्रभाव डालने वाली वृत्तियों का विसर्जन। मनुष्य को क्रोध आता है। उसमें अहकार के भाव रहते हैं। वह छलना और क्रूरता से घिरा हुआ है। वह उन वस्तुओं के प्रति आसक्त रहता है जो कि उसकी अपनी नहीं हैं। इन वृत्तियों की कोई उपयोगिता नहीं है, फिर भी मनुष्य इनका भार ढोता है। मैं चाहता हूं आप इन वृत्तियों का विसर्जन करना सीखें। आप लोग कहेंगे, ये मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियां हैं। भूख, प्यास और नींद की भांति इनका भी जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। इतना गहरा सम्बन्ध जिनके साथ है उनका विसर्जन कैसे होगा? सम्बन्ध कितना ही गहरा क्यों न हो, हमारा जोड़ा हुआ है, इसलिए वह स्वाभाविक नहीं हो सकता। स्वभाव वह होता है जिसके बिना जीवन टिके नहीं। क्रोध स्वभाव नहीं है। आप उसके बिना जी सकते हैं। किन्तु यदि आपमें से कोई यह संकल्प कर ले कि मैं दिन-रात क्रोध करूंगा, वह जी नही सकेगा। कषाय (क्रोध, मान माया, लोभ) विजातीय तत्त्व हैं। जब तक इनका विसर्जन नहीं होगा, तब तक जीवन मे स्थायी शांति नहीं आ सकेगी। सम्पूर्ण या अपूर्ण जितना भी हो, अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उन वृत्तियों का विसर्जन करना है—जो ऋजुता और मृदुता में बाधक हैं, शाति में बाधक हैं, सहजता में बाधक हैं।

विसर्जन का दूसरा रूप आपके सामने प्रस्तुत करूं, उससे पहले मैं यह बताना चाहूंगा कि विसर्जन की बात मेरे चिन्तन में कैसे आयी? अणुव्रत दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे कई बार यह चिन्तन चला था कि परिग्रह का अल्पीकरण या संग्रह की भावना में संशोधन कैसे हो? कई प्रारूप बने पर उनको अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका। दक्षिण-यात्रा के समय इस चिन्तन में फिर तीव्रता आयी। केरल-यात्रा से लौटते समय मैं कोयम्बतूर पहुंचा। वहां वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ मे अणुव्रत क्या कर सकता है? समस्या-समाधान में अध्यात्म का क्या योगदान है? आदि प्रसंगों पर चर्चा चली। केरल का साम्यवादी वातावरण भी

चर्चा का विषय बना। कुल मिलाकर एक नया चिन्तन सामने आया जो 'विसर्जन' के नाम से परिचर्चित है। आपको यह शब्द नया-सा प्रतीत हो सकता है, पर इसकी भावना नयी नही है। भगवान् महावीर के युग मे श्रमणोपासक की धार्मिक चर्चा में विसर्जन की भावना काफी प्रबल थी। कब मैं अल्प मूल्य या बहुमूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा?—श्रावक की तीन महत्त्वपूर्ण अभिलाषाओं मे पहली अभिलाषा यह है।

कुछ लोगों का तर्क है कि समाज-व्यवस्था में दान की परम्परा पहले से ही प्रचलित है। 'विसर्जन' से इसी परम्परा का निर्वाह होता है। फिर दान-व्यवस्था को नकारकर उसी तथ्य को शब्दो का नया परिधान देकर रखने का क्या अर्थ है? तर्क के औचित्य को मैं अस्वीकार नही करता किन्तु मेरे अभिमत से दान और विसर्जन दो भिन्न वस्तुएं हैं। दान मे अहं और सम्मान की भावना सावकाश है, विसर्जन का सम्बन्ध ममत्व-मुक्ति से है। विसर्जन वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपनी अस्मिता को तोड़ चुका है। विसर्जन वही व्यक्ति कर सकता है, जो सम्मान और प्रतिष्ठा के व्यामोह से ऊपर उठ चुका है। विसर्जन वही व्यक्ति कर सकता है जो अर्थ के प्रति आन्तरिक आसक्ति से मुक्त होता है। विसर्जन वही व्यक्ति कर सकता है जो कभी ऐसा सोचता ही नहीं कि मैंने किसी को कुछ दिया है।

इस सन्दर्भ मे विसर्जन का दृश्य सम्बन्ध अर्थ से जुडता है। अर्थ का अर्जन सामाजिक प्राणी की अनिवार्यता है। सम्मानपूर्वक जीवन जीने के लिए और आत्मनिर्भरता का विकास करने के लिए व्यक्ति अर्थ का अर्जन करता है। अर्जन का सम्बन्ध मात्र आवश्यकता-पूर्ति के साथ होता तो विसर्जन की बात सामने नही आती। पर आवश्यकता के लिए कोई सीमा-रेखा नहीं है। आज जिस वस्तु की आवश्यकता है वह पूरी होने के साथ ही एक नयी आवश्यकता को जन्म दे देती है। घास-फूस के झोंपडो मे जीवन-यापन करने वाले बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओ की सुविधा भोगकर भी संतुष्ट नही है। इस मनोलिप्सा की तृप्ति के लिए मनुष्य आवश्यकता से अधिक अर्जन करता है। अर्जित वस्तु के प्रति उसका मोह होता है, इसलिए उसे संगृहीत करके रखने का मनोभाव जागृत होता है। भावी जीवन की चिन्ता भी एक कारण है जो संग्रह की प्रेरणा देती है। बुढ़ापे के समय जब शरीर साथ नहीं देता है और संयोगवश पुत्र-पौत्रो का परिवार अनुकूल नही

रहता है, उस समय व्यक्ति का एकमात्र आलम्बन उसकी संगृहीत अर्थराशि ही हो सकती है। समाज और राज्य इस दिशा मे लोगों को कोई व्यवस्था या आश्वासन नहीं दे पाया है, जिससे वे भावी चिन्ता से मुक्त होकर वर्तमान में जीने का अभ्यास करें। कुछ व्यक्ति अपनी भावी पीढ़ी के लिए अतिरिक्त संग्रह करते हैं। सामान्यतया यह बात सबको रुचिकर लगती होगी; क्योंकि बिना कुछ श्रम किए पूर्वजों द्वारा उपार्जित अर्थ से सब सुविधाएं उपलब्ध हो जाती हैं। किन्तु ऐसा करने वाले अपनी भावी पीढी की अकर्मण्यता में मुख्य रूप से सहायक बनते हैं। माता-प्रिता का दायित्व अपने बच्चों को स्वास्थ्य, शिक्षा और संस्कार-दान के साथ स्वावलम्बी बनाना है। जो माता-पिता अपनी सात पीढ़ी के लिए अर्थ की पूरी व्यवस्था छोड़कर जाते है उनकी अपेक्षा मैं उन माता-पिता को कुशल और कर्तव्यनिष्ठ मानता हू जो बच्चों को अपने पांव पर खड़ा कर देते है। वे उनके लिए एक पैसे की सम्पत्ति नहीं छोड़ते, पर आत्मनिर्भरता की सर्वोच्च सम्पदा से सम्पन्न बना देते हैं। इस परिवेश में व्यक्ति की मनोदशा सग्रह के कीटाणुओं से आक्रांत नहीं होती अतः विसर्जन भी अपने आप में कृतार्थ हो जाता है।

विसर्जन का प्रश्न तीव्रता से वहां उभरता है जहां संग्रह हो और संग्रह का मनोभाव हो। अर्थ-संग्रह समाज की पीडा है। अर्थ आता है और प्रवाहित हो जाता है। उससे कोई बुराई नहीं आती। नदी में पानी आता है और बह जाता है। उसकी गति में अवरोध नहीं है। यदि कोई नदी के किनारे गड्ढा खोदकर पानी को जमा करके रखता है तो पानी सड़ जाता है। पानी की स्वच्छता समाप्त होती है और वायुमण्डल दूषित। हमारे शरीर में रक्त का प्रवाह चलता रहता है। उस प्रवाह में अवरोध आ जाए तो रक्त दूषित हो जाएगा और शरीर में बीमारी पैदा हो जाएगी। अर्थ का प्रवाह भी जहां कहीं रुकता है वह समाज के लिए पीड़ा का हेतु बनता है। दूसरी बात यह है कि अर्थ ऐसी चीज है, जो संगृहीत करके रखने की है ही नही। नीतिकारों ने इस सम्वन्ध में कहा है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

अर्थ का उपयोग तीन प्रकार से होता है—दान, भोग और नाश। उदारमना व्यक्ति भोग की अपेक्षा दान को अधिक महत्त्व देते है। वे अपनी अत्यन्त आवश्यकता को विस्मृत कर समाज की अपेक्षा पूरी करते है। दूसरी कोटि के व्यक्ति किसी को कुछ नहीं दे सकते, पर अर्थ का पूरा उपभोग करते हैं। तीसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो न दे सकते है और न भोग सकते हैं। उनके आधिपत्य में जो अर्थ होता है वह विनष्ट हो जाता है, पर उनके द्वारा उसका कोई उपयोग नही हो सकता। यह अर्थशास्त्रीय नीति है, किन्तु मै इसे अध्यात्म के साथ जोडना चाहता हू।

अर्थ अध्यात्म नहीं है। पर उसके प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है। यह दृष्टिकोण स्पष्ट होगा तो अर्थार्जन के साथ पनपने वाली अनैतिकता को रोका जा सकता है। आज देश मे भ्रष्टाचार की चर्चा तीव्र हो रही है। चारों ओर से भ्रष्टाचार को समाप्त करने की माग आ रही है। युवा पीढी इसके लिए विशेष रूप से जूझ रही है, किन्तु मैं मानता हूं कि जब तक अर्थ के प्रति लोगों का दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं होगा, भ्रष्टाचार की समस्या समाप्त नही हो सकेगी। अर्थ जीविका का साधन है, पर जीवन का साध्य नहीं है। अर्थ व्यक्ति की प्रतिष्ठा का हेतु नही है, नैतिक तरीको से भी अर्थार्जन किया जा सकता है। अनैतिकता से अर्थार्जन करने वाला वडा आदमी नही है, आदि कुछ ऐसे सूत्रो को सामने रखकर समाज के अर्थाश्रित मानदण्डों को बदलने का प्रयास हो तो विसर्जन की वात स्वाभाविक हो जाएगी।

अर्जन के साथ आने वाली अनैतिकता को समाप्त करने के लिए 'विसर्जन' एक प्रक्रिया है। इसकी कई पद्धतियां हो सकती है, जिनमे से कुछ रूप मै आपके सामने रख रहा हूं—

१ आवश्यकता से अधिक अर्जन न करने का संकल्प।

२ एक निश्चित समय के बाद अर्जन न करने का संकल्प।

३ एक निश्चित व्यावहारिक अर्थ राशि से अधिक सग्रह न करने का सकल्प।

४. व्यापार मे अनैतिक साधनो को काम मे न लेने का सकल्प, जैसे—

(क) किसी को धोखा नही देना।

(ख) मिलावट नहीं करना।

(ग) तोल-माप में कमी-बेशी नहीं करना।

(घ) चोर-बाजारी नहीं करना।

(ङ) लाभ की भावना से आवश्यक वस्तुओं के विक्रय को स्थगित करना आदि।

५. अर्थ से व्यक्तिगत स्वामित्व का विस्तार कम करना।

६. व्यक्तिगत भोग के लिए अर्थ का सीमाकरण।

७. अर्जित अर्थ का अमुक भाग छोड़ने का संकल्प।

इस प्रकार विसर्जन की कई पद्धतियां व्यवहार्य बन सकती हैं। इन सबके पीछे महत्त्वपूर्ण बात है—आन्तरिक आसक्ति का परित्याग। आसक्ति-त्याग विसर्जन का आध्यात्मिक मूल्य है। विसर्जन के साथ अनासक्ति नही है तो वह विसर्जन नहीं है। विसर्जित अर्थराशि का उपयोग समाज-हित के लिए होता है, वह वितरण व्यवस्था से सम्बन्धित बात है। विसर्जन और वितरण ये दो सर्वथा भिन्न तथ्य हैं, पर बहुत बार इनको एक कर दिया जाता है। विसर्जन का सम्बन्ध अध्यात्म से है और वितरण का समाज-व्यवस्था से। अनाज के साथ तूड़ी होती है, इसी प्रकार विसर्जन के साथ वितरण हो सकता है। विसर्जन के बाद उस वस्तु पर विसर्जन करने वाले व्यक्ति का स्वामित्व नहीं रहता। विसर्जन एक स्वस्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसका समाज-व्यवस्था में भी बहुत बडा मूल्य है। यह इसका गौण परिणाम है। गौण और मुख्य तत्त्व को गहराई से समझकर हमारी तरुण पीढी विसर्जन के सूत्र को व्यावहारिक रूप देगी। अर्थ के प्रति अपने अति आकर्षण को तोड़कर समाज मे नये मूल्यो की स्थापना करेगी तथा भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में उनकी रत्नत्रयी अहिसा, अनेकान्त और अपरिग्रह से राष्ट्र-चेतना और व्यक्ति-चेतना का जागरण करेगी, इसी आशा के साथ मैं शिविर में भाग लेने वाले युवकों के माध्यम से देश के समस्त तरुणो को आह्वान करता हूं कि वे अपनी अवांछनीय वृत्तियों का विसर्जन करें, ध्वंसात्मक प्रवृत्तियो का विसर्जन करें, संग्रह का विसर्जन करे और निर्माणात्मक कार्यो मे युवाशक्ति का नियोजन करे।

अध्यात्म का अभिनन्दन

आज मेरा अभिनन्दन किया जा रहा है—यह लोग सोचते होगे। मैं सोचता हूं आज अध्यात्म का अभिनन्दन हो रहा है। अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नही है, इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है, इसीलिए मैं सोचता हूं कि यह उसी का अभिनन्दन हो रहा है।

मैं व्यक्ति-पूजा का पक्षपाती नहीं हूं। गुण-पूजा के विषय मे कोई दो मत नही हैं। मैने इन पचीस वर्षो मे तथा उससे पहले भी गुणों की पूजा करने का प्रयत्न किया है। उस प्रयत्न में मैं अकेला नही हू। मैंने दूसरो को भी साथ रखा है। साथ लेकर चलने को भी जनता ने एक गुण मान लिया और उसकी वह पूजा कर रही है। यदि वह व्यक्ति-पूजा होती तो उसका सबसे पहला प्रतिपक्षी मै होता।

वर्तमान विश्व के लिए अध्यात्म अधिक अपेक्षित है। मानसिक सन्तुलन जो अस्त-व्यस्त हो रहा है, उसकी पुनः स्थापना के लिए अध्यात्म के अतिरिक्त कोई उपाय नही है। स्वस्थ शान्तिपूर्ण जीवन का सर्वोपरि साधन स्वस्थ और शान्तिपूर्ण मानस ही है।

अध्यात्म का अभिनन्दन अध्यात्म की गति का प्रेरक बन सकता है—इसी तर्क से बाध्य हो, बहुत संकोच को चीरकर मुझे इस अभिनन्द मे उपस्थित होने और उसे स्वीकार करने की अपनी अनुमति देनी पडी

मैंने दूसरो के उत्थान या विकास करने का कभी दावा नही किय उनसे अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है?

मै अपने विकास और उत्थान के लिए चला। वह दूसरो के

का भी निमित्त बन गया। इसीलिए लोग मानते होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूं।

जिसे पर माना जाता है, उसका अभिनन्दन कोई नहीं करता। सब स्व को मानते हैं। वह अध्यात्म है। उसके अभिनन्दन को लोग मानते है कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है।

जो कुछ हो, मेरे लिए अभिनन्दनीय अध्यात्म ही है। भौतिक अपेक्षाएं समाप्त नहीं हुई हैं किन्तु वे अन्त तक अपेक्षाएं ही हैं इसलिए अभिनन्दनीय नहीं हैं।

कोई भी व्यक्ति भौतिक अपेक्षाओं को छोड़ नहीं सकता तो कोई भी चिंतनशील व्यक्ति भौतिकता को अपेक्षा से अधिक महत्त्व भी नही दे सकता। अध्यात्म वस्तुतः हमारी अपेक्षा नहीं है। वह हमारा स्वभाव है। उसे अपेक्षित इसलिए कहा जाता है कि वह विस्मृत हो रहा है। इस आयोजन को आप उसकी स्मृति का ही निमित्त बनाएं।

मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के पचीस वर्ष पूर्ण हुए हैं। इस अवधि में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए, उन्हें मैं आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूं। उनमें पहला यह है :

१. अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।
२. साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद ये दोनों भ्रान्त हैं।
३. नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनों की सहावस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।
४. धर्म-संस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नही रह सकता।
५. भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।
६. धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं।
७. वर्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है। केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नहीं बन सकता।

८. आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धांत क्रियान्वित हो सकता है। जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएं निर्विकार हो सकती हैं। अभेद बुद्धि को विकसित किए बिना कोई भी व्यक्ति दूसरों को अपना नहीं सकता।
९. धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी या आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है। ये सत्य केवल श्रुत नहीं हैं, अनुभूतिगम्य हैं। थोड़ा-सा ध्यान देने पर लगेगा कि विश्व की वर्तमान गतिविधि से स्वयं फलित हो रहे हैं। मैं कोरा भारतीय ही नही हूं, जागतिक भी हूं। इसलिए केवल भारत से ही नही, बल्कि समूचे जगत् से अनुरोध करने का अधिकारी हूं कि वह इन वस्तु-सत्यो की ओर ध्यान दे। अणुव्रत-आन्दोलन और क्या है? इन वस्तु-सत्यो की ही क्रियान्विति है। मैं आज भी उसी विश्वास पर दृढ़ हूं कि अणुव्रती बने बिना कोई भी आदमी अच्छा आदमी नही बन सकता, भले फिर वह आन्दोलन का सदस्य बने या न बने।

अणुव्रत-आन्दोलन आदर्श और व्यवहार की दूरी को कम करने मे सहयोगी बना है, यह बहुत स्पष्ट है।

अणुव्रत-आन्दोलन सब धर्मो के लिए समान मंच बना है—यह निर्विवाद सत्य है। हमारी और आप सब लोगों की जो इतनी आत्मीयता बढी है, भेदों में से हमने अभेद ढूढ़ा है, उसका निमित्त यही आन्दोलन है।

यह आन्दोलन मेरे द्वारा—एक सम्प्रदाय के आचार्य द्वारा संचालित है, फिर भी यह साम्प्रदायिकता से अलिप्त हो रहा है। इसका हेतु यही है कि मुझे जो सम्प्रदाय मिला है, वह असाम्प्रदायिक तत्त्वों पर आधारित है। आत्म-विकास का अधिकार मनुष्य मात्र को है। किसी सम्प्रदाय या जाति का व्यक्ति इस अधिकार से वचित नहीं है और किसी सम्प्रदाय या जाति को विशेषाधिकार प्राप्त नही है। तेरापंथ के आध्यात्मिक प्रसार का यह मूल-सूत्र है। जैन-चिन्तन का मूल आधार भी यही है।

मे जन-हित की प्रवृत्ति का जो यत्किंचित् निमित्त बन सका, उसका श्रेय तेरापंथ की उदार विचारधारा, विनीत साधु-साध्वियों और

श्रावक-श्राविकाओं को है।

मेरे मतानुसार साधु-संस्थाएं आध्यात्मिक विकास में जितना सहयोग दे सकती् हैं, उतना अन्य संस्थान नहीं दे सकते।

साधु-संस्थाओं के दृष्टिकोण विशाल, आचार पवित्र और विचार स्वस्थ होने चाहिए। आज की साधु-संस्थाओं को बहुत चिन्तन करने की अपेक्षा है। उन्हें यदि अध्यात्म का विकास अभीष्ट है तो वे :

१. राजनीति में हस्तक्षेप न करें।
२. परिग्रह से अलिप्त रहें।
३. जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद आदि झमेलों में न फंसे। शांत, समन्वय और विश्व की एकता का प्रसार करें।
४. नवीनता या प्राचीनता का मोह न करें, सदा समीचीनता का समादर करें।
५. चारित्रिक विकास को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाएं।
६. सुशिक्षित, सुव्यवस्थित और अनुशासित हों, उनका भविष्य उन्ही के आत्म-संयम, कष्ट-सहिष्णुता, त्याग और वैराग्य पर निर्भर है।

इस भौतिक और बौद्धिक युग में वही साधु-संस्था अपना गौरवपूर्ण अस्तित्व रख सकेगी जो :

१. लक्ष्य के प्रति आस्थावान होगी।
२. अपने नेता, साधर्मिकों और स्वयंभूत सिद्धांतो के प्रति असंदिग्ध होगी।
३. बाह्य उपकरणों और आवश्यकताओं को अत्यल्प रख पाएगी।
४. अनुशासन, विनय और वात्सल्य का समुचित समादर करेगी।
५. पद-लोलुपता और निर्वाचन से मुक्त रहेगी।
६. श्रम-परायण होगी, आरामपरकता से बचेगी।
७. लोक-संग्रह की अपेक्षा लोक-कल्याण पर अधिक ध्यान देगी।

मैने इन पचीस वर्षो में जिस साधु-संस्था का नेतृत्व किया है, उसका वर्तमान गौरवपूर्ण है, अतीत उत्तम रहा है, भविष्य उज्ज्वल दीखता है। क्योंकि उसमें अनुशासन है, व्यवस्था है, विषय और वात्सल्य की भावना है, श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय है तथा है लक्ष्य के प्रति अडिग विश्वास।

मैं अपने साधु-साध्वियों को प्राप्त-विशेषताओं के लिए साधुवाद देता हूं और अप्राप्त विशेषताओं की प्राप्ति के लिए आह्वान करता हूं।

मै कामना करता हूं कि आध्यात्मिक विकास के लिए विश्व की सभी साधु-संस्थाएं अपने वर्तमान को गौरवपूर्ण और भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए अनुशासन आदि विशेषताओं को विकसित करें।

'अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित संपादन मे सहायक होती है'—भगवान् महावीर की इस वाणी मे जो प्रेरक सन्देश हे, उससे प्रेरणा लूं, प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनूं, साधना के पथ पर और आगे बढ़ूं, लोक-कल्याण का और अधिक निमित्त बनूं : यही संकल्प मेरे अग्रिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे।

दायित्व का विकास

दायित्व

वि॰ सं॰ १९९३ की भाद्रपद शुक्ला नवमी को मैंने विधिवत् आचार्यपद का दायित्व संभाला। उससे चार मास पूर्व यह कल्पना तक नही थी कि अभी-अभी थोड़े समय के पश्चात् ही मुझे इतना गुरुतर दायित्व संभालना होगा। किन्तु पूज्य गुरुदेव का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया और उनका दायित्व मेरे कन्धों पर आ गया। उस समय बाईस वर्ष मेरी उम्र थी। मै उनका अत्यन्त कृपापात्र रहा। विद्याध्ययन चल ही रहा था। शासन-संचालन का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था। यह किसने कल्पना की थी कि गुरुदेव की हाथ की अंगुली मे एक छोटा-सा व्रण होगा और वह उनके देहावसान का हेतु बन जायेगा। गुरुदेव की अपनी कल्पना थी कि छोगांजी के पास जाकर मैं तुलसी को युवाचार्य-पद पर अभिषिक्त करूंगा। यदि वह कल्पना साकार होती तो मुझे उनके चरणों में बैठ शासन-संचालन का भी प्रत्यक्ष अनुभव मिलता। पर वह कल्पना ही रही। आखिर नियति का ऐसा ही योग था। वे दिवंगत हुए अपना सूत्र मुझे सौंप गये।

आदि क्षण

उस समय पौने पांच सौ साधु-साध्वियां थीं। लाखों श्रावक-श्राविकाए थीं। एक संगठन, एक व्यवस्था, एक सूत्र, एक आचार-विचार। उन सवका सर्वोपरि नेता होता है आचार्य। गण की सारी व्यवस्था उसके अधीन होती है। उस सारी परिस्थिति में मुझे सहयोग की वहुत अपेक्षा थी।

मैं गुरुदेव का परम अनुग्रह और अपना सौभाग्य मानता हूं कि मुझे अपेक्षा से अधिक सहयोग मिला—एक-एक व्यक्ति का मिला, सबका मिला। मैं कभी नहीं भुला सकता—उस समय मुझे मन्त्री मुनि मगनलालजी स्वामी का सहयोग मिला। यह उन्हीं का सूत्र था कि—'आचार्यश्री को छोटी अवस्था का कौन कहता है? आप ८२ वर्ष के हैं। ६० गुरुदेव के और २२ आपके—इस प्रकार ८२ वर्ष के हैं। उन्होंने वातावरण में जो प्रगाढ़ता उत्पन्न की और जो गौरव निर्मित किया, वह सबके लिए आदर्श बन गया। और भी सब व्यक्तियों ने मुझे जो स्थान दिया, वह सहज सुलभ नहीं है। मैंने उसे भिक्षुगण की विशिष्ट परम्परा और समूचे गण की कुशल नीति का आभार माना और आज भी मानता हूं।

मै आचार्य होने के बाद भी अधिक समय अध्ययन-अध्यापन मे लगाता था। शासन-सूत्र की चिन्ता से बहुत प्रभावित नहीं था। फिर भी सारे कार्य अपनी गति से चल रहे थे।

लक्ष्य और साधना

उस समय मेरे सामने दो प्रमुख कार्य थे, गण का संचालन और उसका सर्वांगीण विकास। संचालन का अनुभव कार्य करते-करते प्राप्त होता गया। मैं नही मानता कि उसमें प्रारम्भिक अपूर्णता नही रही, पर उसे पूर्ण करने के लिए मैं जागरूक रहा, यह निश्चित है। विकास की दिशा में बहुत अपेक्षाएं थी। मुझे स्वयं को बनना था, औरों को बनाना था, इसलिए भगीरथ-प्रयत्न आवश्यक था।

अध्ययन और निर्माण

हमारा विकास-बीज पूज्य कालूगणी द्वारा बोया गया था। वह अकुरित भी हो गया था। अल्प मात्रा में पुष्पित भी हो गया था, पर अभी उसे फलित और शतशाखी करने की आवश्यकता थी। उसका कार्य मेरे हाथों में आया। उस समय सस्कृत-व्याकरण का ज्ञान हम पा चुके थे। पर संस्कृत-साहित्य, न्यायशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना था। हिन्दी के विपय में कोई गति नहीं थी। साहित्य-निर्माण का क्षेत्र बहुत सीमित था। तुलनात्मक अध्ययन, अनुसन्धान का कार्य तो वहुत दूर की बात थी। प्राकृत भी प्रारम्भ दशा मे

था। साधु तो फिर भी थोड़ा काम चला लेते, साध्वियों में तो बहुत कम ज्ञान था, इन भाषाओं और विषयों का। पूज्य गुरुदेव साध्वियों की ज्ञान-वृद्धि के लिए बहुत प्रयत्नशील थे। इसके लिए मुझे विशेप संकेत भी दिया था। मैंने इस ओर विशेष ध्यान दिया। साधुओं के अध्ययन में भी नये उन्मेष लाये गए। भाषण, लेखन, प्रतियोगिता आदि विविध प्रयोग किये गए। आठ-दस वर्ष के सतत प्रयत्नों के बाद यह फलवान बना और अभिलषित विकास की दिशाएं प्रशस्त हो गई।

पूज्य गुरुदेव के स्वर्गवास के बाद बारह वर्ष तक मैं बीकानेर राज्य में ही रहा। विहार-क्षेत्र बहुत सीमित कर दिया। निर्माण के लिए वह बहुत उपयोगी रहा। उस अवधि में जो कार्य हुआ, वह मेरी कल्पना से कम नहीं है।

हमारी परम्परा बहुत विनय-प्रधान और अनुशासन-प्रधान रही है। आचार्य का इंगित पा सब साधु-साध्वियां उसी दिशा मे चल पडते है, जहां आचार्य उन्हें ले जाना चाहते हैं। मैंने विकास के लिए जो चाहा, वही कार्य उन सबने किया। विकास केवल विद्या से ही नहीं होता। उसके लिए चरित्र और सभ्यता के उच्च आदर्श भी अपेक्षित होते हैं। हमारे साधु-साध्वियों ने चरित्र और सभ्यता के विचारो में भी उन्नति की। वे मुझे अपने विकास का हेतु मानकर साधुवाद देते हैं तो मैं भी सुयोग्य शिष्यों को पाकर अपने को सौभाग्यशाली मानता हूं।

पुस्तक संग्रह

अध्ययन के लिए अध्यापक और पुस्तक—ये दो प्राथमिक अपेक्षाएं होती हैं। प्रारम्भ में हमें दो गृहस्थ अध्यापक मिले—पं॰ घनश्यामजी और पं॰ रघुनन्दनजी। संस्कृत-विकास के लिए हमारा गण उनका बहुत कृतज्ञ है। हमारी अध्ययन-परम्परा प्रायः गुरु-शिष्य-क्रम से होती है। पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती को पढाता है। पुस्तक-संग्रह जयाचार्य के समय में प्रारम्भ हुआ था। वह समृद्ध हुआ कालूगणी के शासनकाल मे। मन्त्री मुनि ने अथक प्रयत्न किया। भण्डारों से प्रतियां उपलब्ध कीं और हमारी अपेक्षा पूर्ण हो गई। हम उन यतियों और अन्य दाताओं का भी आभार मानते हैं, जिन्होंने इस विपय में उदारता प्रदर्शित की।

लिपि-कौशल

जयाचार्य ने लिपि-कौशल की पहल की। उनके उत्तराधिकारी मघवागणी ने एक पत्र मे सटीक 'अणुत्तरोववाइय' लिखा। बहुत सुन्दर और वहुत सूक्ष्म। कालूगणी के समय में उसे वहुत प्रोत्साहन मिला। यह कहावत बन गई—'जो लिखना नही जानता वह अधूरा पंडित है।' सैकड़ो प्रतियां लिखी गई दृश्य और मनोरम। सूक्ष्मता का विकास हुआ। मुनिश्री कुन्दनमलजी ने एक पत्र मे ढाई हजार श्लोक लिखे। वह क्रम आगे ही वढ़ता गया। इस प्रकार लिपि के क्षेत्र मे हमारा गण बहुत प्रगतिशील रहा है।

विहार

कालूगणी से पूर्व हमारा विहार-क्षेत्र सीमित था—लगभग राजस्थान, मालवा और हरियाणा। यदा-कदा दूसरे प्रान्तो मे विहार हुआ पर वह स्थायी नही वना। कालूगणी ने इस सीमा मे वृद्धि की। वे स्वय बहुत दूर नही गये पर अपने शिष्यों को वम्वई तक भेजा।

विरोध

हम विरोध मे विश्वास नही करते। प्रारम्भ से ही हमारी नीति शातिपूर्ण रही। दूसरो की आलोचना मे हम कभी नही फंसे। फिर भी हमारे गण को अनवरत सघर्प झेलने पडे। हमारा विकास का इतिहास संघर्पो का इतिहास है। उन्हें शान्तिपूर्ण ढग से सहन करने तथा विरोध मे अपनी शक्ति न खपाने का वरदान हमे सदा प्राप्त रहा है।

इतर सम्प्रदायों से सम्बन्ध

इसका हेतु सैद्धांतिक मतभेद ही हो सकता है कि हमारे और दूसरे जैन-सम्प्रदायों के सम्वन्ध मैत्रीपूर्ण नही थे। कुछ तो युग ही ऐसा था और कुछ मानस भी। समन्वय का यत्न न हमने किया और न दूसरो ने ही। एक प्रकार का तनावपूर्ण-सा वातावरण था। यद्यपि मिलते-जुलते भी थे, परस्पर वार्तालाप भी होते थे, पर समन्वय का कोई प्रयत्न नहीं था।

प्रचार

प्रारम्भ से ही हमारा प्रचार-क्षेत्र व्यापक रहा है। जैन और जैनेतर सभी जातियों में हमारा धर्मोपदेश होता रहा है। फिर भी जातीय भावना के संस्कार नहीं थे, यह नहीं कहा जा सकता। जैन-दर्शन मे जातिवाद को कभी तात्त्विक मान्यता नहीं मिली। फिर भी वह संस्कार रूढ़ हो गया। और आज भी वह बहुत वार बाधक बनता है। हमारे पुराने साधुओ मे जो लगन, कष्ट-सहिष्णुता और धैर्य था, वह सचमुच प्रशंसनीय था। उनके द्वारा हम बहुत सफल भी हुए।

श्रावक समाज

हमारा श्रावक समाज प्रायः व्यापारी है। वह बहुत दूर तक फैला हुआ है—हिन्दुस्तान के लगभग सभी प्रान्तों में है। प्रचुरता राजस्थान में है। उसमें शिक्षा युग की तुलना में कम है। जैन-दर्शन के गम्भीर अध्ययन की परम्परा भी नही है। साहित्य के प्रति आकर्षण भी कम है। बहुत लोग आधुनिक युग के सम्पर्क मे हैं तो बहुत नहीं भी हैं। स्त्रियो में तो शिक्षा की बहुत ही अल्पता है। पर जागरण हो रहा है, ऐसा लगता है। चरित्र की दृष्टि से बहुत समृद्ध नहीं तो दरिद्र भी नही है। उसके प्रति आस्था है और संयम-विकास की तड़प है।

नया-चिन्तन : नयी प्रवृत्तियां

तेरहवें वर्ष में एक चिन्तन स्फुरित हुआ। आकस्मिक तो नहीं कहना चाहिए, अव्यक्त कहा जा सकता है। जो बहुत वर्षो तक अव्यक्त रूप में पलता रहा, वह समय पकते ही व्यक्त हो गया। चिन्तन पूर्णता की दिशा मे था। मुझे भान हुआ कि हम जो कर रहे है वह पूर्ण नही है। पूर्ण की बात वहुत दूर है। पर पूर्णता की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जाना चाहिए। साधना, शिक्षा, विहार, प्रचार तथा समन्वय आदि सभी मे विकास करने का अवकाश है और हमें उसके लिए पग उठाने चाहिए।

इस चिन्तन के फलस्वरूप हमने योगासन, ध्यान, खाद्य-सयम की ओर विशेष लक्ष्य किया। अध्ययन के लिए पाठ्यक्रम तैयार किया। विधिवत्

परीक्षाए चालू कीं। हम छापर में चातुर्मास कर रहे थे। यह वि॰ सं॰ २००५ की वात है। थोडे महीनों बाद फाल्गुन में अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। दीक्षार्थी भाई-बहनों के लिए समाज की ओर से पारमार्थिक शिक्षण संस्था की स्थापना हुई। उधर जनतन्त्र उदय पा रहा था और इधर हमारे गण में नवोदय हो रहा था। युग के साथ चलने की भावना भी मन मे थी। युग के प्रवाह में बहने को मै अच्छा नहीं मानता पर युग के साथ चलने को मैं बुद्धिमत्ता मानता हू। मैं मानता हू कि आज का युग जैन चिन्तन से सर्वाधिक प्रभावित है। अहिसा, समन्वय, सापेक्षता, जातिवाद की अतात्त्विकता आदि तत्त्व इतने विश्रुत हुए है कि पहले कभी नही हुए थे। इस परिस्थिति को मैं समझना चाहता था और अन्यान्य प्रभावों से जैन परम्परा में जो विकार घुस गये थे, उन्हें दूर करना भी चाहता था। इसी चिन्तन के साथ उन्ही दिनो मैंने जातिवाद, अस्पृश्यता आदि पर कडे प्रहार किये। हरिजनो के मुहल्लो मे प्रवचन आदि किये। पहले वे हमे छू नही पाते थे, उस बन्धन को तोडा और एक नये पथ की ओर प्रयाण कर दिया। नया मैं इस अर्थ में कह रहा हू कि वह पुराना होते हुए भी विस्मृत था। विस्मृत की स्मृति होती है, उसे नया मानना चाहिए।

यात्रा

इसी प्रकरण में हमारी यात्राएं प्रारम्भ हुई, मन्त्री मुनि अस्वस्थ हो गए, वहुत वृद्ध थे ही। उन्हें सरदारशहर में स्थित किया और हम यात्रा के लिए चले। पहली यात्रा जयपुर की हुई। उसका उद्देश्य भी था और साधन भी। उद्देश्य था—चरित्र-विकास, नैतिक समृद्धि। साधन थे— साधना, शिक्षा, साहित्य और घुलनशीलता। द्वितीय महायुद्ध के वाद नैतिक दरिद्रता की क्रमिक वृद्धि हो रही थी। उस वाढ़ को विवेक-जागरण के द्वारा ही रोका जा सकता था। इसलिए जन-जन के वीच जाना आवश्यक हुआ। यह साधना के विना हो नहीं सकता था। वह हमे सहज प्राप्त थी। शिक्षा की अपेक्षा को हमने वारह वर्षो मे पूर्ण करने का यत्न किया। साहित्य समृद्ध नहीं हुआ था पर निर्माण होने लगा था। वि॰ सं॰ २००० से हमारे साधु हिन्दी मे लिखने लगे थे। यात्रा के लिए उपयोगी साहित्य भी लिखा गया। घुलनशील हम वन गये थे। समन्वय की दृष्टि प्राप्त हो गई थी। छापर मे जव मै था तव

'कालूयशोविलास' में मैंने स्वयं कुछ परिवर्तन किये। उसके पीछे समन्वय की ही दृष्टि थी। स्याद्वाद को आधार मानकर हम सह-अस्तित्व में दृढ़ आस्थावान् बन गए थे।

विस्तार

उस समय श्रावक-समाज भी इस दिशा में सहयोगी बना। हमारे कार्यकर्ता सीमित थे। साधन भी सीमित थे। हमारा उद्देश्य और कार्य सीमित नहीं था। उसे जन-जन तक पहुंचाने में श्रावकों ने भी हाथ बंटाया। इस कार्य में आदर्श साहित्य संघ ने पहल की। फिर अणुव्रत समिति ने भी कार्य किया। तेरापंथी महासभा अपने ढंग से काम कर ही रही थी। साहित्य, जन-सम्पर्क आदि के माध्यम से आन्दोलन शीघ्र ही व्यापक बन गया। दिल्ली में पहला वार्षिक अधिवेशन हुआ, तब परिचय काफी बढ़ गया। अपरिचय और कुछ भ्रान्तियों के कारण जनता और हमारे बीच जो दूरी थी, वह समाप्त हो गई।

अब यात्राओं का तांता-सा जुड गया। मैंने राजस्थान के अतिरिक्त पंजाब, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल की यात्रा की। इन तेरह वर्षो में लगभग चौदह-पन्द्रह हजार मील का पाद-विहार किया। साधु-साध्वियों को भी दूर-दूर भेजा। जिन प्रान्तो मे मैं नही गया, वे वहां गए। सारा हिन्दुस्तान हमारा विहार-क्षेत्र बन गया। आर्य-अनार्य की जो अहेतुक धारणा थी, उसे भी हमने निर्मूल कर दिया। इन यात्राओ में अनेक कठिनाइया भी झेलनी पड़ी। फिर भी मुझे और मेरे साधु-साध्वियों को बडा मनस्तोष मिला। जनता को बहुत सतोष मिला। विचार-विनिमय का द्वार खुल गया। आन्दोलन को उससे बहुत बल मिला। अनेक श्रावक-श्राविकाओ ने इस प्रयाण मे श्लाघनीय सेवा की।

इधर हमारा जन-सम्पर्क वढ़ा, उधर साहित्य। दोनों ओर से विचार प्रसरणशील बने। विरोध भी कम होने लगा। हमने समन्वय की ओर हाथ वढाया, दूसरी ओर से भी उदारता मिली। प्रारम्भ मे कुछ कठिनाइयां भी वढ़ी पर आगे चल स्वयं मार्ग वन गया। मैने दया-दान की निरूपण शैली में परिवर्तन किया। उसके आधार पर नये दृष्टिकोण से साहित्य लिखा गया। फलतः चूहे-विल्ली के स्तर की आलोचना ऊंचे स्तर पर आ गई।

मैं बहुत धीमी गति से चल रहा था, फिर भी जो नये कदम बढ़े उनमें कुछेक साधुओ और श्रावकों को सन्देह ही रहा। आखिर वह एक दिन सबके सामने आ गया। कई साधु गण से अलग हो गए। पांच मास तक वह स्थिति रही। आखिर हमने समाधान का मार्ग ढूंढ़ निकाला और उस वातावरण की समाप्ति हुई। मैं सदा अहिंसा की भाषा में सोचता हूं। दूसरे भी वैसे ही सोचते होंगे। मैं विग्रह को पसन्द नहीं करता। कोई भी नही करता होगा। पर चिन्तन को रूढ़ बनाकर चलना मुझे पसन्द नहीं है। साधुत्व की चिन्ता दूसरों की अपेक्षा मुझे कम नहीं है और दायित्व भी दूसरों की अपेक्षा मेरा अधिक है। समूचे गण के आचार-विचार की चिन्ता करना मेरा परम धर्म है। फिर भी मैं मानता हूं कि सामयिक परम्पराओ के परिवर्तन में हम स्वतन्त्र हैं। उनसे साधुत्व के मौलिक रूप में कोई परिवर्तन नही होता। देश-काल के अनुसार जो नये नियम बनते हैं और पुराने बदलते है, उन्हे समझने की क्षमता सबमें होनी चाहिए। दूसरों की अपेक्षा आचार्य के लिए अधिक वांछनीय है कि वे परिस्थिति के अनुसार आवश्यक परिवर्तन भी लाएं।

उन परिस्थितियों ने कार्यक्रमों को बहुत प्रभावित किया। यात्राओं में कुछ कठिनाइयां भी उत्पन्न हुई, फिर भी हमारा कार्य रुका नहीं। इस संघर्ष से कुछ रोष बढ़ा--आलोचना की प्रवृत्ति बढ़ी--श्रद्धा और विनय में कुछ कमी हुई तो कुछ लाभ भी हुए--अध्ययन बढ़ा, चिन्तन बढ़ा, स्थितियों को समझने की क्षमता बढ़ी, अहिंसा में विश्वास बढा। शताब्दी के बाद ऐसे परिवर्तन हुआ करते है। इसलिए मैं इस घटनाक्रम को अपूर्व नही मानता।

वर्तमान स्थिति

वर्तमान के चौराहे पर खडा होकर ही व्यक्ति अतीत को देखता है और भविष्य की कल्पना करता है। मेरा पचीस वर्षो का अतीत मेरी दृष्टि में विविध-रूपी रहा है और उसमें प्रिय-अप्रिय भी है, उतार-चढ़ाव भी है और सम-विषम भी है। विविधता के बिना जीवन मे सौन्दर्य भी नहीं होता और विकास भी नहीं होता। मैने सौन्दर्य और विकास के लिए यत्न किया है। मेरी तड़प यही रही है कि हमारा गण मनोरम बने और विकासशील बने। आज इस संकल्प मे हम सफल हुए है। आज हमारे गण का स्थान प्रमुखतम

धर्म-सघो में है। दूसरे सम्प्रदायों के साथ हमारे सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं। अणुव्रत-आन्दोलन भी गतिशील है। शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र मे अभिलषित प्रगति हो रही है। अभी द्विशताब्दी समारोह पर जो साहित्य प्रकाश में आया, उसे लोगो ने पसन्द किया है, विद्वानो ने महत्त्वपूर्ण माना है। विकास के लिए नये-नये द्वार खुल रहे है। इस अवसर पर भी पर्याप्त मात्रा मे साहित्य -सर्जन हुआ है। आगम-सम्पादन का कार्य चालू है ही। मुझे सन्तोष है और पूर्ण सन्तोष है।

सामूहिक लक्ष्य

विज्ञान और बुद्धिवाद के युग मे धर्म जीवित रह सकता है। अध्यात्म की उपेक्षा कर कोई मनुष्य शान्ति नही पा सकता। अहिंसा, मैत्री, अनाक्रमण जैसे धर्म के मूलभूत तत्त्व परिहार्य नही है। धार्मिको का इस युग मे विशेप दायित्व है। धर्म-सस्थानो के बाहरी रूपो मे थोडा परिवर्तन करे, उन्हे वैज्ञानिक युग के अनुरूप ढालें, नये चिन्तन के अनुसार पूंजी, सत्ता आदि से उन्मुक्त रखकर उनके विशुद्ध रूप की स्थापना करे।

समन्वय का विकास भी वहुत अपेक्षित है। मै धर्म-सम्प्रदायो से अनुरोध करता हू कि हम सब सहिष्णु बनें। जैन सम्प्रदायो से मैं विशेष बात कहना चाहता हू—हम सब विभिन्न संस्थानो में रहते हुए भी एक रहे। महावीर जयन्ती, सांवत्सरिक पर्व जैसे महान् पर्व हमारे एक हों। हमारे आगम-वाचन भी एक हो। श्वेताम्वर-दिगम्बर समाज के कुछ ग्रंथ ऐसे हो, जो सर्वमान्य वने। सम्प्रदाय-भेद के आधार पर सामाजिक भेद आदि कतई न हो। हमारा साहित्य-निर्माण भी समन्वय का पोषक हो। मै इस अवसर पर फिर सम्प्रदाय-मैत्री के पाच व्रतो की याद दिलाता हूं :

हमारे सारे प्रयत्न ऐसे हो, जो समन्वयवाद की आत्मा को प्रस्फुटित कर सके—

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किए जाए।
२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
३ दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
५. धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

विज्ञान की वर्तमान उपलब्धियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण आलोचनात्मक ही न हो। उन्हें समझें और यथार्थ के प्रति चिन्तन का उदार दृष्टिकोण अपनाएं।

वर्तमान कार्यक्रम

हमारा कार्यक्रम बहुमुखी है। हम किसी एक ही दिशा में नहीं चल सकते। धर्मोपदेश भी आवश्यक है और साधना, अध्ययन और निर्माण भी आवश्यक हैं; परम्परा भी आवश्यक है और परिवर्तन भी आवश्यक है। इन सबकी पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि हमारा चिंतन उन्मुक्त हो, दिमाग खुला हो। साधारणतः लोग पुराणप्रिय होते हैं। वे रूढ़ि को जितना महत्त्व देते हैं, उतना आवश्यक परिवर्तन को नहीं देते। द्विशताब्दी के अवसर पर हमने 'नया मोड़' का कार्यक्रम शुरू किया। वह अणुव्रत-आन्दोलन का प्रेरक है। उसकी सफलता पर आन्दोलन की सफलता निर्भर है। फिर भी कठिनाइयां यही हो रही हैं कि रूढ़ि अब भी प्रिय है। मुझे विश्वास है कि लोग इस भावना को समझने का यत्न करेंगे। मेवाड़ के लोगों ने इसे समझने का यत्न किया और सामूहिक रूप से इसे स्वीकार भी किया है।

सिंहावलोकन

जब मैं अपने-आपको देखता हूं तो गण को देखता हूं और जब गण को देखता हूं तो अपने-आपको देखता हूं। हमारी परम्परा में गण और गणी भिन्न नहीं होते। जब मैंने भिक्षु गण का दायित्व संभाला तब १३८ साधु और २३२ साध्वियां थीं। इन पचीस वर्षों में मैंने १५६ साधुओं और ३३१ साध्वियो को दीक्षित किया। उनमें से ११ साधुओ तथा २१ साध्वियो का स्वर्गवास हो गया। ४० साधु और ४ साध्वियां गण से पृथक् हो गई। आज सर्व संख्या ६४५—संत १६२ और सतियां ४८३। दीक्षा के सवंध में मेरी नीति

स्पष्ट रही है। मैं अवस्था की अपेक्षा योग्यता को अधिक महत्त्व देता हूं। फिर भी जन-मानस को समझने के लिए मैं सदा सतर्क हूं।

जो स्वर्गवासी हुए हैं उनकी स्मृति ही हो सकती है और यह कहा जा सकता है कि जो जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दीक्षित हुए थे, उसमे सफल हुए। वे जीवनभर अपने पथ पर चलते रहे।

जो गण से पृथक् हुए हैं, उनके कई प्रकार हो सकते है। कई व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण गण से पृथक् हुए और उन्होंने अपनी असमर्थता को स्वीकार भी किया। उनके प्रति सहानुभूति के सिवाय और क्या हो सकता है?

कुछ व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण पृथक् हुए और वे उसे स्वीकार करने मे भी असमर्थ रहे। उन्होंने समाज-सेवा की भी लम्बी-चौडी वाते की और साधु-संस्था को जी-भर कोसा। उनके लिए मैं यही कहना चाहता हूं कि वे यथार्थता पर आवरण न डालें और अकृतज्ञता की दोषपूर्ण पद्धति को प्रोत्साहन न दें।

कुछ व्यक्ति मेरी नीति से असन्तुष्ट होकर पृथक् हुए, ऐसा वे कहते है। इस स्थिति के प्रति मैं स्वयं विस्मित हूं। मेरा हृदय ही ऐसा है कि मैं किसी को भी असन्तुष्ट देखना नहीं चाहता। मैं मानता हूं—आचार्य की नीति किसी को सन्तुष्ट करने की नहीं, औचित्य की होनी चाहिए। एक व्यक्ति को येन-केन-प्रकारेण उसका मनचाहा कर सन्तुष्ट किया जा सकता है पर वैसा करना उचित नहीं होता। एक को सन्तुष्ट करने में सम्भव है अनेक मे असन्तोष उभर आए। मेरी दृष्टि मे जितना महत्त्व औचित्य का है, उतना असन्तुष्ट करने का नहीं। असन्तुष्ट होने वाले अपनी प्रकृतिगत निर्बलताओं पर ध्यान नहीं देते। वे केवल मेरी संचालन-नीति में ही दोष देखते हैं। मैं उन्हें यही कहना चाहता हूं कि कितना अच्छा होता यदि वे मेरी नीति की आलोचना के साथ-साथ अपनी आत्मा की भी थोड़ी आलोचना करते।

कुछ व्यक्ति मतभेद के कारण पृथक् हुए है। मैं नहीं मानता कि ऐसा कोई मतभेद था, जिससे उन्हें गण से पृथक् होना पड़ा। मेरी दृष्टि मे वह उनके विचारो की संकीर्णता है। जैन-संघ मूल मे अनेकान्तवादी है पर लगता है आज उसका व्यवहार एकान्तवाद से गहरा आक्रान्त है। जिस स्याद्वाद

में विश्वभर के मतवादों का समन्वय करने की क्षमता है, उसके अनुयायी सबसे अधिक पार्थक्य में लगे हुए हैं। छोटे-छोटे सामयिक प्रश्नों को लेकर वे इस प्रकार साधुत्व और असाधुत्व की कल्पना करते हैं मानो साधुत्व निष्कषाय आत्मा की परिणति न होकर केवल बाहरी व्यवस्था ही हो। यह सब स्याद्वाद के सीमित ज्ञान और इतिहास के अज्ञान का परिणाम है। जो व्यक्ति मतभेद के नाम पर पृथक् हुए हैं उन्हें मैं कहना चाहता हूं कि वे एकान्तवादी विचारधारा में न जाएं और दूसरों को भी उस ओर न ले जाएं।

इन दिनों कुछ श्रावक भी गण से पृथक् हुए है। मैं उनसे भी कहना चाहता हूं कि वे अपने मन को सरल बनाएं और जो समझने का हो, उसे समझने का यत्न करें। प्रयत्न करने पर भी समझ में न आए तो उसे चिन्तन के लिए छोड़ दें। पर ऐसा मार्ग न चुनें, जो उनके लिए भी हितकर नही और समाज में भी क्षोभ पैदा करने वाला हो। मै गण से पृथक् हुए साधु या श्रावक सभी व्यक्तियों से सहृदयता के साथ कहना चाहता हूं कि वे ऐसा कोई काम न करें जो हमारे गण की महान् परम्पराओं के प्रतिकूल हो और आत्म-हित के भी अनुकूल न हो।

मै अपने गण के सदस्यो को भी यही कहता हूं कि वे गण से पृथक् हुए व्यक्तियों के प्रति कभी भी दौर्मनस्यपूर्ण व्यवहार न करें और ऐसा वातावरण भी उत्पन्न न करें जिससे उसके मन में कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न हो और वे गण के शत्रु बनें।

आन्तरिक नीति

गण के प्रति मेरी नीति वही है, जो किसी कुल-प्रमुख की अपने कुल के प्रति होती है। मैं गणी को अवयवों का सकलन मानता हूं। सारे अवयव जहां समवेत होकर अवयवी का रूप लेते है वही गणी है। अवयवों से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नही है और उससे पृथक् अवयवों का कोई अस्तित्व नही है। कोई दिमाग होता है और कोई पैर, पर अपने-अपने स्थान में उन सबका समान मूल्य है। चिन्तन के लिए दिमाग आवश्यक है तो चलने के लिए पैर आवश्यक हैं। जव तक अवयव हैं तव तक अनावश्यक कुछ भी नहीं है। अवयवों को स्वस्थ रखने के लिए उनकी सार-संभाल भी होती है।

कोई विकार आता है तो उसकी चिकित्सा भी की जाती है। पर अनावश्यक मानकर किसी भी अंग की उपेक्षा नहीं की जाती। मैंने मूलभूत अधिकारों की दृष्टि से सबको समान अवसर देने का यत्न किया है। मैंने इन वर्षों में अपनी व्यवस्थाओं में कुछ बड़े परिवर्तन किये हैं। ये सबकी सुविधाओं और उपयुक्तताओं को ध्यान में रखकर किये है। योग्यता के पीछे जो महत्त्व मिलना चाहिए, वह सबके लिए समान न्याय है। वह किसी व्यक्ति का समादर नही है किन्तु योग्यता का समादर है, गण के सभी सदस्यों का समादर है।

मैं अपने विषय में अनुभव करता हूं कि जैसे-जैसे अहिंसा का मर्म हृदयंगम किया है, वैसे-वैसे अधिक मध्यस्थ बना हूं। मेरी नीति मे मध्यस्थता का भाव होना ही चाहिए। वही गण में उल्लास और अनुशासन को प्राणवान वनाए रख सकता है।

साधुओ और साध्वियो! हमारा गण विनय, अनुशासन, व्यवस्था और एक-सूत्रता की प्रयोगशाला है। उसमें अनेक दुर्लभ प्रयोग हुए है। उनमे हम सब सफल रहे हैं। आज भी हमे इस महान् परम्परा को जीवित रखना है। हमें युग की उच्छृंखल भावना से बचते रहना है।

संघ-विस्तार

हमारी सदा से नीति रही है कि गुण की मात्रा अधिक हो। संख्या को न अधिक महत्त्व दिया है और न देते है। कुछ लोग कहते है कि साधु-साध्वियो की संख्या अधिक नही होनी चाहिए। मैं भी मानता हूं—केवल संख्या का भार नही होना चाहिए। गुण मात्रा से सम्पन्न हो तो संख्या से घवराना भी नही चाहिए। कुछ व्यक्ति संघवद्धता में हिंसा देखते हैं, मै इससे सहमत नहीं हूं। हिंसा का हेतु सघवद्धता भी हो सकती है और अकेलापन भी हो सकता है। किन्तु साधना के प्रारम्भ मे सघवद्धता वहुत उपयोगी है।

साधु-संस्था का भविष्य

कुछ लोग कभी-कभी शकित हो जाते हैं कि इस अनास्थावादी वुद्धिवादी युग मे साधु-संस्था का भविष्य क्या होगा? मैं तो इस आशका से तनिक भी चिन्तित नहीं हूं। मेरा मानना है कि शक्तिशाली सस्थान का भविष्य

दायित्व का।

कभी अन्धकारमय नहीं होता। साधु-संस्था में धर्म की शक्ति रहेगी, अध्यात्म का तेज रहेगा और साधना का प्रेम रहेगा तो उसका भविष्य सदा उज्ज्वल है। उनके बिना वह रहे तो क्या और न रहे तो क्या? आत्मा नष्ट होने पर कोई संस्थान चलता है तो वह लाभकारी नहीं होता। मुझे दृढ़ विश्वास है कि हमारा गण धर्म की उपलब्धि को सर्वोपरि महत्त्व देगा, उसका भविष्य सदा प्रकाशमय होगा। अध्यात्म में इतना सामर्थ्य है कि अनास्था उसके सामने आस्था में बदल जाती है और बुद्धिवाद झुक जाता है। इस वैज्ञानिक युग में अध्यात्म की लौ और अधिक प्रज्वलित हो सकती है। उसकी सिद्धि के लिए हमें ध्यान और स्वाध्याय पर अधिक केन्द्रित होना है। ज्ञानोपासना, साहित्य-साधना आदि कार्य बहुत अच्छे हैं। पर ध्यान की उपलब्धि के बिना वे उतने प्राणवान नहीं होते। मैं सभी साधु-संस्थानों से कहना चाहता हूं कि इस युग-प्रश्न का समाधान करने के लिए हम सब अध्यात्म की ओर विशेष ध्यान दें।

तन्त्रवाद

जहां संघ होता है वहां शासन होता है और जहां शासन होता है वहां तंत्र की चर्चा अपने आप हो जाती है। लौकिक शासन प्रणालियां कई प्रकार की हैं—राजतंत्र, एकतंत्र, जनतंत्र या प्रजातंत्र। जहां बाहरी नियन्त्रण प्रबल होता है वहां इनमें से कोई-न-कोई तन्त्र आवश्यक होता है। धार्मिक जगत् में आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास किया जाता है। इसलिए यहां उक्त तन्त्रों में से कोई भी आवश्यक नहीं है। धर्म-शासन में आत्मानुशासन से फलित गुरुतन्त्र आवश्यक है। आत्मानुशासन का अर्थ है—व्यक्ति स्वयं पर शासन करे। यह स्वशासन की पद्धति ही साधुत्व का मूल मन्त्र है, आचार्य का जो शासन है, वह इस स्वशासन का ही एक अंग है। शिष्य-वर्ग अपनी स्वतन्त्र भावना से यह चाहता है कि गुरु हमारा पथ-प्रदर्शन करें। संयम की प्रगति के लिए हमें अनुशासन दें और विस्मृति के लिए प्रायश्चित्त दें। आचार्य के पास यही बल होता है और कोई सत्ता, शक्ति या अधिकार नहीं होता। हमारे गण के विनीत साधु-साध्वियां अपनी सारी इच्छाओं को आचार्य के चरणों में समर्पित कर देती हैं। इसलिए आचार्य को उनकी शक्ति का यथोचित प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है।

हमारे गण में प्रत्यक्ष शासन आचार्य का होता है। परोक्ष शासन अग्रगामियों का होता है। आचार्य उन्हें अपना प्रतिनिधि बना दूर-दूर भेजते है। जयाचार्य ने उन्हें अस्थायी उपाध्याय भी कहा है। आगम-सूत्रों में गण की व्यवस्था के लिए सात पदों का उल्लेख है। आचार्य भिक्षु ने देश-काल को ध्यान में रख उस प्रणाली में परिवर्तन किया। शेष छहों पद एक आचार्य पद मे निहित कर दिये। उन्होंने आचार्य को सर्वाधिकार सौंपकर ही शासन-तन्त्र में परामर्श प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने अनेक धाराओ में बुद्धिमान् साधुओं से परामर्श लेने और उनकी सम्मति का सम्मान करने की वात कही है। उसे मैं उसी रूप मे अबाधित रखना चाहता हूं। यह मै कभी नही चाहता कि साधना-रत साधु-साध्वियो में किसी लौकिक तन्त्र का अनुकरण हो और राजनीतिक निर्वाचन जैसी कोई पद्धति पनपे। यह धर्म-संघों के लिए कभी हितकर नही है। ऐसी पद्धतियो के आने पर सत्ता प्रधान और साधना गौण हो जाती है। साधु-संस्था का आध्यात्मिक वर्चस्व नष्ट हो जाता है। इष्ट यही है कि उनमें गुरु और शिष्य का प्रेमपूर्ण सम्वन्ध वना रहे। गुरुत्व और शिष्यत्व--दोनो का विकास हो। हम इस अर्थ में वहुत भाग्यशाली हैं कि हमें वह धर्म-सघ प्राप्त है, जिसमे शिष्य, धर्मस्थान, संग्रह आदि का कोई विग्रह नही है। सत्ता और अधिकार जैसा कोई वाह्य वातावरण नही है।

मेरी अपेक्षाएं--व्यक्ति-विकास

व्यक्ति भिन्न होने पर भी सर्वथा भिन्न नही है। गण का विकास व्यक्ति का विकास है और व्यक्ति का विकास गण का विकास है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह सभी व्यक्तियो को विकास का समुचित अवसर दे। सवके लिए प्रयत्न करे। जहां सामुदायिक जीवन होता है, वहा कुछ सीमाए भी होती हें। उन्हे बनाए रखना आवश्यक होता है। एक व्यक्ति के लिए एक सीमा तक ही कुछ किया जा सकता है--उसका विकास दूसरो के विकास मे वाधक न बने तथा दूसरो में अनपेक्षित भावना उत्पन्न न करे, वहां तक ही किया जा सकता है। मैं मानता हूं कि व्यक्ति-विकास आवश्यक है पर महत्त्वाकांक्षा आवश्यक नही है। साम्प्रदायिकता मे जहां महत्त्वाकांक्षापूर्ण व्यक्तिवाद पनपता है वहा समुदाय गतिहीन वन जाता है।

कभी अन्धकारमय नहीं होता। साधु-संस्था में धर्म की शक्ति रहेगी, अध्यात्म का तेज रहेगा और साधना का प्रेम रहेगा तो उसका भविष्य सदा उज्ज्वल है। उनके बिना वह रहे तो क्या और न रहे तो क्या? आत्मा नष्ट होने पर कोई संस्थान चलता है तो वह लाभकारी नहीं होता। मुझे दृढ़ विश्वास है कि हमारा गण धर्म की उपलब्धि को सर्वोपरि महत्त्व देगा, उसका भविष्य सदा प्रकाशमय होगा। अध्यात्म में इतना सामर्थ्य है कि अनास्था उसके सामने आस्था में बदल जाती है और बुद्धिवाद झुक जाता है। इस वैज्ञानिक युग में अध्यात्म की लौ और अधिक प्रज्वलित हो सकती है। उसकी सिद्धि के लिए हमें ध्यान और स्वाध्याय पर अधिक केन्द्रित होना है। ज्ञानोपासना, साहित्य-साधना आदि कार्य बहुत अच्छे हैं। पर ध्यान की उपलब्धि के बिना वे उतने प्राणवान नहीं होते। मैं सभी साधु-संस्थानों से कहना चाहता हूं कि इस युग-प्रश्न का समाधान करने के लिए हम सब अध्यात्म की ओर विशेष ध्यान दें।

तन्त्रवाद

जहां संघ होता है वहां शासन होता है और जहां शासन होता है वहां तंत्र की चर्चा अपने आप हो जाती है। लौकिक शासन प्रणालियां कई प्रकार की हैं—राजतंत्र, एकतंत्र, जनतंत्र या प्रजातंत्र। जहां बाहरी नियन्त्रण प्रबल होता है वहां इनमें से कोई-न-कोई तन्त्र आवश्यक होता है। धार्मिक जगत् में आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास किया जाता है। इसलिए यहां उक्त तन्त्रों मे से कोई भी आवश्यक नहीं है। धर्म-शासन में आत्मानुशासन से फलित गुरुतन्त्र आवश्यक है। आत्मानुशासन का अर्थ है—व्यक्ति स्वयं पर शासन करे। यह स्वशासन की पद्धति ही साधुत्व का मूल मन्त्र है, आचार्य का जो शासन है, वह इस स्वशासन का ही एक अंग है। शिष्य-वर्ग अपनी स्वतन्त्र भावना से यह चाहता है कि गुरु हमारा पथ-प्रदर्शन करें। संयम की प्रगति के लिए हमें अनुशासन दें और विस्मृति के लिए प्रायश्चित्त दें। आचार्य के पास यही बल होता है और कोई सत्ता, शक्ति या अधिकार नहीं होता। हमारे गण के विनीत साधु-साध्वियां अपनी सारी इच्छाओं को आचार्य के चरणों में समर्पित कर देती हैं। इसलिए आचार्य को उनकी शक्ति का यथोचित प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है।

हमारे गण में प्रत्यक्ष शासन आचार्य का होता है। परोक्ष शासन अग्रगामियों का होता है। आचार्य उन्हें अपना प्रतिनिधि बना दूर-दूर भेजते हैं। जयाचार्य ने उन्हें अस्थायी उपाध्याय भी कहा है। आगम-सूत्रों में गण की व्यवस्था के लिए सात पदों का उल्लेख है। आचार्य भिक्षु ने देश-काल को ध्यान में रख उस प्रणाली में परिवर्तन किया। शेष छहों पद एक आचार्य पद में निहित कर दिये। उन्होंने आचार्य को सर्वाधिकार सौपकर ही शासन-तन्त्र मे परामर्श प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने अनेक धाराओ में बुद्धिमान् साधुओं से परामर्श लेने और उनकी सम्मति का सम्मान करने की बात कही है। उसे मैं उसी रूप में अबाधित रखना चाहता हूं। यह मैं कभी नहीं चाहता कि साधना-रत साधु-साध्वियों में किसी लौकिक तन्त्र का अनुकरण हो और राजनीतिक निर्वाचन जैसी कोई पद्धति पनपे। यह धर्म-संघों के लिए कभी हितकर नही है। ऐसी पद्धतियों के आने पर सत्ता प्रधान और साधना गौण हो जाती है। साधु-संस्था का आध्यात्मिक वर्चस्व नष्ट हो जाता है। इष्ट यही है कि उनमें गुरु और शिष्य का प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बना रहे। गुरुत्व और शिष्यत्व—दोनों का विकास हो। हम इस अर्थ में बहुत भाग्यशाली हैं कि हमे वह धर्म-संघ प्राप्त है, जिसमे शिष्य, धर्मस्थान, संग्रह आदि का कोई विग्रह नहीं है। सत्ता और अधिकार जैसा कोई बाह्य वातावरण नहीं है।

मेरी अपेक्षाएं—व्यक्ति-विकास

व्यक्ति भिन्न होने पर भी सर्वथा भिन्न नहीं है। गण का विकास व्यक्ति का विकास है और व्यक्ति का विकास गण का विकास है। आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह सभी व्यक्तियों को विकास का समुचित अवसर दे। सबके लिए प्रयत्न करे। जहां सामुदायिक जीवन होता है, वहां कुछ सीमाएं भी होती हैं। उन्हें बनाए रखना आवश्यक होता है। एक व्यक्ति के लिए एक सीमा तक ही कुछ किया जा सकता है—उसका विकास दूसरों के विकास में बाधक न बने तथा दूसरों मे अनपेक्षित भावना उत्पन्न न करे, वहां तक ही किया जा सकता है। मै मानता हूं कि व्यक्ति-विकास आवश्यक है पर महत्त्वाकाक्षा आवश्यक नहीं है। साम्प्रदायिकता में जहां महत्त्वाकांक्षापूर्ण व्यक्तिवाद पनपता है वहां समुदाय गतिहीन बन जाता है।

स्पर्धा प्रबल बन जाती है।

साधु-समाज के लिए पूजा, प्रतिष्ठा, यश और ख्याति वांछनीय नही है। अपने कर्तृत्व से,. प्रयत्नों से यह सहज ही हो जाती है, पर उनके लिए प्रयत्न नहीं होना चाहिए।

महत्त्वाकांक्षा विकास के क्षेत्र में भले हो पर उसे लिप्सा का रूप नहीं देना चाहिए। महत्त्वाकांक्षा प्रबल हो जाती है तब अवैध प्रयत्न करने मे भी संकोच नहीं होता।

विकास बहुत अपेक्षित है और मैं तो चाहता हूं कि सव-के-सब पूर्ण विकासशील बनें। कालूगणी के शब्दों में सब आचार्य-पद के योग्य बनें। विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम ह्रास के हेतुओं के प्रति सतर्क रहें। मुझे कुछ कमियां दीखती हैं, वे विकास-चिन्ह्र नही हैं। अनुशासन के प्रति जितनी जागरूकता चाहिए, उसमे कुछ कमी हुई है। अनुशासन में चलना और चलाना दोनों की शिक्षा में विकास अपेक्षित है। गम्भीरता भी, लगता है, कुछ कम हुई है। बात को पचाने की क्षमता बहुत कम है। आवश्यकतानुसार गोपनीयता का बहुत महत्त्व है। गण के प्रति जो एकत्व है, उसे और प्रबल बनाने की अपेक्षा है। मैं मानता हू इस युग के साधु-साध्वियो में शिक्षा बढ़ी है, सभ्यता बढ़ी है, शिष्टाचार बढ़ा है, आन्तरिक साधना की रुचि भी बढी है। इन सबके साथ उन्हें भी बढ़ाना चाहिए, जो उपेक्षित है।

मैं सबका विकास चाहता हूं। इसीलिए साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका चतुर्विध सघ से यह कहना चाहता हूं कि वे अपनी साधना के साथ-साथ गण की उन्नति के लिए भी जागरूक रहे। देश-काल को समझकर चलें। युग के चिन्तन को समझने की ही नही किन्तु उसे चिन्तन देने की भी क्षमता प्राप्त करें। ज्ञान और चरित्र-विकास की होड में किसी से भी पीछे न रहे। जो तत्त्व उन्हें मिला है उसे दूसरों तक पहुंचाने का यत्न करें। साहित्य, साधना, ध्यान, समन्वय, चरित्र आदि के क्षेत्रो में जो सफलता प्राप्त की है उसे और आगे वढ़ाएं। मै उन वाक्यो को फिर दोहराता हूं कि सुयोग्य शिष्यों को पाकर मैं स्वयं को सौभाग्यशाली मानता हूं, प्रसन्नता का अनुभव करता हूं। श्रावक-संघ की श्रद्धा सचमुच विस्मयजनक है। इस महान् भिक्षु-गण को पाकर मै और चतुर्विध संघ सव सौभाग्यशाली है। मैंने

इन पचीस वर्षो में गण की समुन्नति के लिए जो प्रयत्न किए हैं, वे भविष्य में और अधिक बलवान बनेंगे—ऐसी आशा करता हूं। सबको संयम के पथ पर सुखे-सुखे चलने की सुविधा देता रहूं, यही मैं अपने लिए मंगल-कामना करता हूं। संघ के लिए मेरी मंगल-कामना यह है कि वह सुखे-सुखे संयम के पथ पर चलने की प्रेरणा पाता रहे।

श्रावकों से अपेक्षाएं

श्रावक-समाज श्रद्धा-प्रधान है। यह ठीक है, पर उसे ज्ञान-प्रधान भी होना चाहिए। जैन-साहित्य का अध्ययन और उन्नयन भी आवश्यक है। जैन-धर्म, दर्शन, साहित्य आदि की उन्नति का चिन्तन करना चाहिए। आज यह आवश्यक हो गया कि कुछ विद्यार्थी विशेष शिक्षा प्राप्त करें। तेरापंथी महासभा का भी यह कर्तव्य है कि वह विद्वानो को तैयार करे।

ज्ञान के साथ चरित्र-विकास भी आवश्यक है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति विशेष ध्यान देना अपेक्षित है। नीति के क्षेत्र में जैन श्रावक सदा प्रतिष्ठा-प्राप्त कर रहे हैं। आज भी उन्हें वैसे ही रहना चाहिए।

संगठन और एकता हमारे गण के प्रमुख तत्त्व है। वे केवल साधुओं के लिए ही नही हैं, श्रावको के लिए भी हैं। दलबन्दी में रस न लेकर सामूहिकता को महत्त्व देना चाहिए। जैन समाज-रचना में साधर्मिक वात्सल्य का बहुत बडा स्थान है। धर्म की प्रभावना और स्थिरीकरण के लिए यह सर्वोत्तम उपाय है। मै आशा करता हूं कि श्रावक लोग इन सब दिशाओ मे विशेष प्रगति करेगे।

राष्ट्र-दर्शन

मै गण की स्थिति का परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्र और विश्व की स्थिति का स्पर्श कर रहा हू। समूचा विश्व हमारे लिए अभिन्न है। हम हिन्दुस्तान मे रह रहे है। यह विशेष निकट है। यहां आध्यात्मिक परम्पराएं सुदीर्घकालीन हैं। शान्ति, अनाक्रमण, अहिसा आदि बहुत प्रिय है। उनके सस्कार मज्जागत बने हुए है। सहस्राब्दी की विशृंखलता के कारण यहा के ज्ञान-विज्ञान की विशेष उपलब्धियां आज भी विस्मृत है। चरित्र या नैतिकता के क्षेत्र मे भी कुछ खामियां है। आर्थिक कठिनाइयों, राजनीतिक जटिलताओ

और बुद्धिवाद की निरंकुशता से लोक-जीवन अस्त-व्यस्त-सा है, फिर भी वे सस्कार मृत नहीं है। मैं इस अवसर पर सब भारतीयों से यह कहना चाहता हूं कि वे धर्म, राजनीति और बुद्धिवाद को चरित्र से अधिक महत्त्व न दें। दीर्घकालीन परतन्त्रता और गरीबी के कारण जो दोष आ घुसे हैं, वे एक ही झटके में न टूट सकें तब भी उनके प्रति सतर्क रहे। नेताओ और शासनतन्त्र के अधिकारियों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वे भौतिक विकास की भांति नैतिक विकास के लिए भी ध्यान केन्द्रित करें। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, मायावाद, प्रान्तवाद के जो घुन लगे हुए है उन्हें दूर करने का यत्न करना सबका कर्तव्य ही नहीं, धर्म है। भारतीय दर्शन मे समन्वय का बहुत बड़ा सिद्धान्त विकसित हुआ है। उसका प्रयोग यदि भारतीय लोग ही नहीं करेगे तो कौन करेंगे? मै विश्वास करता हूं कि सभी लोग इन तथ्यो पर विशेष विमर्श करेंगे।

विश्व-दर्शन

आज समूचा विश्व समस्याओ से परिपूर्ण है। एक लहर शान्ति की उठती है, दूसरी अशान्ति की। शान्ति अशान्ति से आक्रान्त हो रही है। उपनिवेशवाद से आज भी कुछ राष्ट्र चिपके हैं। कुछ राष्ट्र अणु-आयुधों के विस्तार में विश्व की भलाई देख रहे हैं। अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए कुछ राष्ट्र प्रयत्नशील है। मैं उन सभी राष्ट्रों से अनुरोध करता हूं कि वे अपने आत्म-हित के लिए पुनर्विचार करे, विश्व-शान्ति के लिए कुछ त्याग करें। सह-अस्तित्व के बिना शान्तिपूर्ण जीवन कभी संभव नही है। एक दिन उन्हें विश्वास करना होगा या मिट जाना होगा। तीसरा कोई विकल्प नही है।

• आज इस अवसर पर मैने अपना, गण का, राष्ट्र का और समूचे विश्व का सिंहावलोकन किया है। मेरे आचार्य-जीवन का एक नया अध्याय शुरू हो रहा है। मैं सकल्प करता हूं कि मैने जो किया उससे और अधिक करू। मैंने जो पाया उससे और अधिक पाऊं। मुझसे जनता को जो मिला उससे और अधिक मिले। मेरा जीवन अपने गण, राष्ट्र और समूचे विश्व के लिए हितकर हो, यही मेरी मंगल-कामना है।

अन्त में मैं पूर्ववर्ती आठ आचार्यो के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित

करता हूं। उन्होने जो हमें दिया, वह दुर्लभतम है। पूर्ववर्ती संघ चतुष्टय के प्रति भी आदर-भाव प्रदर्शित करता हूं, जिन्होंने गण-विकास के लिए बहुविध प्रयत्न किये। वर्तमान साधु-साध्वियों को साधुवाद देता हूं, जो गण की अभिवृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रहे है। श्रावक-श्राविकाओं को भी सहयोगी मानता हूं, जो गण के लिए अपना हृदय समर्पित किये हुए है। मेरी यही अपेक्षा है कि गण और गणी सब क्रमिक आरोहण करें।

मेरी आकांक्षा : मानवता की सेवा

मेरा जन्म उस समय हुआ जब अंग्रेजी राज्य पूरे प्रभाव पर था। उस समय आम जनता अपने आपको अग्रेजी शासन में सुखी महसूस कर रही थी। शताब्दियों की राजनीतिक दासता के कारण न्याय, स्वतन्त्रता और समानता के स्वर मंद हो चुके थे। उन्नीसवी सदी में कुछ व्यक्तियों ने साहस करके आवाज उठाई थी। पर तब तक जनमत जागृत नहीं हुआ था। लोकतन्त्र और समाजवाद के सन्दर्भ में कभी जोरदार बहस नही हुई थी। इसलिए न तो किसी की आंखों मे भारत की स्वतन्त्रता का सपना था और न ही उस सपने को साकार करने की बेचैनी थी। जिस दिन भारत की धरती पर विदेशी सत्ता ने पहला कदम रखा, उस दिन भारतीय लोगों की मानसिकता कैसी थी? पर धीरे-धीरे वे विदेशी दासता को झेलने के अभ्यस्त हो गये थे। उस समय भारत के वायसराय लार्ड हार्डिग का देश पर जबरदस्त प्रभाव था। इस प्रभाव का एक कारण था वायसराय का उदारतावादी दृष्टिकोण। उसने कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों सस्थाओं को अपने निकट लेने का प्रयत्न किया। राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में हो चुकी थी। किन्तु वीसवीं शताव्दी में प्रवेश करने के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में गहरी खामोशी छा गई थी। शायद वह आने वाले तूफान से पहले की खामोशी थी। सन् १९१४-१८ के बीच दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटी—प्रथम विश्वयुद्ध तथा भारत की राजनीति में महात्मा गाधी का उदय। इन दोनों घटनाओं का भारत की राष्ट्रीय स्थितियो पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय गतिविधियों में मेरी कोई सक्रिय

साझेदारी नही थी। फिर भी मैं जानता हूं कि यह सब मेरे जमाने में घटित हो रहा था।

राष्ट्रीयता की नयी लहर

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय लोगों में राष्ट्रप्रेम की एक नई लहर आयी। गाधीजी कांग्रेस के साथ जुडे और एक व्यापक जन-आन्दोलन शुरू हो गया। गाधीजी अपने ढग के एक ही व्यक्ति थे। एक ओर अहिसा के प्रति उनकी प्रगाढ आस्था, दूसरी ओर राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम। उन्होंने दो में एक रास्ते को चुनना पसन्द नही किया। उनका सकल्प था—'अहिंसा के बल पर राष्ट्र को स्वतत्र कराना।' उनके आगमन से देश की राजनीति मे नई चेतना का संचार हुआ, नई सोच का विकास हुआ और उसकी क्रियान्विति के लिए नये-नये उपायों की खोज हुई। पूरे देश में स्वतंत्रता की आवाजें गूंज उठी। सन् १९२१ मे असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात व्यापक जन-संघर्ष के रूप में सामने आया। देश की युवा पीढी आन्दोलन के साथ जुडी। हजारो लोग जेलों में गये। वहां उन्हे शारीरिक एवं मानसिक यातनाएं झेलनी पड़ी। फिर भी पूरे देश में आजादी की चेतना जागृत हो चुकी थी। यह उस समय की बात है, जब अग्रेजो की शक्ति निखार पर थी। उनके राज्य में सूर्य अस्त नही होता था और किसी को यह भरोसा नही था कि भारत अपने पांव पर खड़ा होकर स्वतंत्र रूप से काम कर सकता है। ये सब घटनाएं मेरे देखते-देखते घटित हुई। इनमें मेरी भागीदारी का जहां तक सवाल है, उस समय तक मैं अपनी उम्र के उस मोड़ तक नही पहुंचा था, जहां से छलांग भरकर कुछ कर पाता। किन्तु भीतर-ही-भीतर ऐसी भावनाए जन्म ले चुकी थीं, जो मुझे व्यक्ति और परिवार की सीमाओ से ऊपर उठाकर राष्ट्र के बारे में सोचने के लिए सचेत कर रही थीं।

सतह पर शान्ति, तल पर ज्वालामुखी

एक ओर अग्रेजों का स्थापित वर्चस्व, दूसरी ओर आतरिक वर्चस्व के आधार पर स्वतन्त्रता की लड़ाई करने के लिए उद्यत सेनानी। अन्तर्द्वन्द्व दोनों तरफ था। सत्ता के शीर्ष पर खडे लोग वहां से हटने की मानसिकता मे नही थे और राष्ट्रीय प्रेम के गलियारे में खड़े लोगं सत्य और अहिसा की सोपान

पर चढ़कर अपने राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक मूल्यों को संरक्षण देने के लिए कृतसंकल्प थे। सत्ता के दरवाजे से हिसा बाहर आयी और उसने जनभावना को कुचलने के साथ-साथ जनता को कुचलना शुरू कर दिया। राष्ट्रवादी लोगों की हिंसा के साथ सहमति नहीं थी। उन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन को तीव्र किया, सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति का नियोजन कर दिया। देश में उथल-पुथल मच गई। बडी-बड़ी सभाएं आयोजित होने लगी। बीस-तीस हजार लोगों की वे सभाएं संख्या की दृष्टि से ही नहीं, भावना की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। शहरों से लेकर गांवों तक उन सभाओं की चर्चा थी। उनके अनुकरण में छोटे-छोटे बच्चे भी अपने संगठन बनाकर आजादी की लड़ाई लड़ने के लिए उतावले हो उठे थे। ये सब स्थितियां मैंने अपने जमाने मे देखीं, सुनी। उन दिनों की राजनैतिक उथल-पुथल ने मेरे मन मे एक-दूसरे प्रकार की उथल-पुथल मचा दी। उससे मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि घर और परिवार छोड़कर साधु बन गया। पूज्य गुरुदेव कालूगणी के चरणो में स्वयं को समर्पित कर मैंने आध्यात्मिक ऊर्जा प्राप्त की। उस ऊर्जा को और अधिक बढ़ाने एव जनहित में उसका उपयोग करने का एक नन्हा-सा संकल्प मेरे मन मे जाग उठा था।

मैं उस संकल्प को पोपण देता हुआ आगे बढ़ रहा था। ग्यारह वर्ष का समय कव पूरा हो गया, कुछ पता ही नही चला। गुरुदेव की निकट सन्निधि का दुर्लभ समय मेरे व्यक्तित्व-निर्माण का महत्त्वपूर्ण समय था। गुरुदेव की अमृत दृष्टि में मेरा छोटा-सा प्रतिबिम्ब बना और अचानक ही वे मुझे छोड़कर चले गये। उनका स्वर्गारोहण मेरे युवा कंधों पर एक विशाल धर्मसंघ के नेतृत्व का वोझ आहिस्ता से रख गया। उस समय सब कुछ अपनी जगह पर पूर्ववत् स्थिर था। केवल गुरुदेव का साया नहीं था। राजनीतिक हलचल के उस माहौल में मैंने एक नया दायित्व ओढा। मेरे दिमाग मे भी कुछ हलचल थी। पर उसे अभिव्यक्ति देने के लिए जिस वातावरण की जरूरत थी, वह सामने नही था। इसलिए मै भीतर-ही-भीतर अत्यन्त सक्रिय होने पर भी ऊपर से विलकुल शांत था। सतह पर शांति और तल पर ज्वालामुखी जैसी स्थिति थी उस समय।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति

तब तक राष्ट्रवादी आन्दोलन ने उपनिवेशवाद की जड़ो को खोदना शुरू कर दिया था। पंचायत व्यवस्था को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया गया। अधिकांश लोगों को यह विश्वास होता जा रहा था कि हिन्दुस्तान एक दिन स्वतन्त्र होकर रहेगा। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे, जिनकी आस्था अंग्रेजी शासन में थी। हिन्दुस्तानी लोग या कांग्रेस जन शासन-सूत्र संभालने में सफल हो सकेंगे, ऐसा वे सोच ही नहीं पा रहे थे। फिर भी आन्दोलन अपनी गति से चल रहा था। आखिर अंग्रेजो के पांवो के नीचे से जमीन खिसकने लगी। उन्हें भारत छोड़कर पुनः अपने देश लौटना पड़ा। सन् सैंतालीस के वे ऐतिहासिक लम्हे भारतवासियों के स्वर्णिम लम्हे थे, जब कई सौ वर्षो की राजनीतिक दासता भोगने के बाद भारत ने स्वतन्त्रता की सांस ली थी। महात्मा गांधी ने अहिंसा के आधार पर देश को आजाद कर एक मिसाल कायम की थी। देशवासी खुशियों से झूम उठे थे। एक समय आया जब लौहपुरुष सरदार पटेल ने लगभग सभी देशी रियासतों का एकीकरण कर एक अखण्ड भारत का स्वरूप उजागर कर दिया था। यह काम अपने आप में एक महाभारत था। सरदार बल्लभभाई पटेल ने इस महाभारत को जीतकर इतिहास को एक नया मोड दिया। यह सब मैंने अपनी आंखों से देखा था, कानो से सुना था।

सामाजिक परिस्थिति

देश की आजादी के समय समाज में पंचायतों का काफी प्रभाव था। चिन्तनशील लोगों की पंचायत व्यवस्था के बारे में मिश्रित प्रतिक्रिया थी। कुछ लोग उसमें अच्छाई देख रहे थे। कुछ लोगो को बुराई-ही-बुराई नजर आ रही थी। वैसे हर व्यवस्था में अच्छाई-बुराई के अंश विद्यमान रहते है। उस समय पंचायत के आदेश बिना कोई भी व्यक्ति कोई वडा काम नही कर सकता था। शादी-विवाह आदि के प्रसंग में कौन व्यक्ति कितना खर्च करे, यह व्यवस्था पंचायत द्वारा निर्धारित होती थी। पंच सम्वन्धित व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के बाद उसे व्यवस्था दिया करते थे।

उस समय समाज मे जैसे संस्कार थे, विदेशी संस्कृति के प्रति नफरत के भावं थे। कोई हिन्दुस्तानी विदेश चला जाता, उसे पंचायत के द्वारा जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। उसके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द कर दिया जाता था। नजदीकी रिश्तों मे इतनी गहरी दरार पड जाती कि भाई-भाई बेगाने बन जाते थे।

समाज मे बाल-विवाह का प्रचलन अधिक था। छोटे-छोटे वच्चों की शादियां कर दी जाती थीं। बच्चो को थाली में बिठाकर शादी की रस्म पूरा करने की परम्परा भी प्रचलित थी। इसी प्रकार वृद्ध विवाह पर भी कोई अंकुश नहीं था। सम्पन्न व्यक्ति किशोरियों के साथ विवाह रचाते, फिर भी उनके विरोध मे कोई आवाज नहीं उठती थी।

स्त्री की दशा बहुत उन्नत नहीं थी। उसे शिक्षा का कोई अधिकार नही था। विशेष रूप से राजस्थान में तथा अन्य प्रदेशों के देहातों-गावों में स्त्रियो को भोग्य सामग्री से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। चमकीले-भड़कीले परिधान और आभूषणों के व्यामोह में उनका चिन्तन भी कुंठित था। ससुराल के मुहल्ले में प्रवेश करते ही उसे अनिवार्य रूप से पर्दे में रहना पड़ता था। ससुर, जेठ आदि कही बैठे हो तो उनके आगे से वे उस रास्ते को पार नही कर सकती थी।

पति की मृत्यु के बाद विधवा स्त्री की जो दुर्दशा होती, आज तो उसकी कल्पना ही की जा सकती है। उसे वर्षो तक घर के कोने मे अपनी जिन्दगी बितानी पडती। काले वस्त्र पहनना उसकी नियति वन जाती। उसकी सारी हंसी-खुशी छीन ली जाती। घर मे किसी भी शुभ या मंगल कार्य के अवसर पर उसकी उपस्थिति को अपशकुन माना जाता। न जाने कितनी शारीरिक और मानसिक यातनाए उसे विवश होकर झेलनी पडती थीं।

मृत्युभोज उस समय सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न वना हुआ था। जीते-जी मां-बाप की सेवा करते या नही, मरने के बाद भोजन जरूरी था। जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक होती, वे सिर पर कर्ज लेकर भी मृत्युभोज की परम्परा को निभाते थे और स्वय को गौरवशाली अनुभव करते थे। अन्य अनेक प्रकार की सामाजिक कुरूढियों का दवदवा था। यह सव मैंने वहुत नजदीक से देखा है।

धार्मिक वातावरण

बहुत ही विचित्र स्थिति थी उस समय की। कोई भी समाज-सुधारक समाज व्यवस्था को बदलने की बात करता, उसका मुंह बन्द कर दिया जाता था। जो नेता इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी भी आवाज उठाते, उनको टिकने नहीं दिया जाता था। साधु-साध्वियां भी रूढ़ सामाजिक परम्पराओं के कट्टर समर्थक थे। यदि कोई बहन घूंघट हटाने की बात करती तो उसे कड़ी डांट सुननी पडती थी। विधवा स्त्री स्थापित मानदण्ड से इधर-उधर कदम रख देती तो उसे व्यंग्य-बाणो से बींध दिया जाता था।

धर्म की स्थितियों में भी मैंने बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं। उस समय धर्म रूढ धारणाओं मे कैद हो चुका था। उसमे क्रियाकाण्ड प्रधान हो गए और आचार-तत्त्व गौण हो गया। इस क्रम मे किसी प्रकार के बदलाव की कोई गुंजाइश नहीं थी। अनेक विचारशील लोग धर्म के इस खोखलेपन को समझते थे, पर उसके विरोध में एक भी शब्द बोलने की स्थिति नही थी। जो कुछ जिस ढंग से चल रहा है, उसे वैसे ही चलने दिया जाए तो ठीक अन्यथा बागी होने का खिताब तैयार था। ऐसी परिस्थिति में नई बात सोचना और उसकी क्रियान्विति के लिए कदम उठाना, बहुत ही साहस की बात थी।

भविष्य का चिन्तन

उन दिनों मैं विचित्र प्रकार के मानसिक द्वन्द्व को पाल रहा था। मेरे कंधो पर विशाल धर्मसंघ का दायित्व था। संघ के सर्वागीण विकास की जिम्मेवारी मुझ पर थी। सामाजिक परिवेश मुझे सोचने के लिए विवश कर रहा था। इधर नैतिक मूल्यों का तकाजा था तो उधर मानवीय दृष्टिकोण से काम करने की प्रेरणा जाग चुकी थी। महात्मा गांधी पर जिस ढंग से गोली दागी गई, मानवता चीत्कार उठी। गांधीजी के जाने से देश के भीतर जो महाशून्य पैदा हो गया था, उसे भरने वाला भी कोई दिखाई नहीं दे रहा था। कुल मिलाकर मैं बहुत असमंजस में था। जो स्थिति मेरे सामने थी, उसे यथावत् रखकर चलना कोई कठिन काम नहीं था। पर उसे बदलना मोम के दांतो से लोहे के चने चबाना था। उस द्वंद्वात्मक स्थिति मे मेरा साथ देने वाले

साधु-साध्विया और सामाजिक कार्यकर्ता कहा थे? जो दो-चार लोग थे, उन्ही को सामने रखकर मैंने चिन्तन किया। भारत के भविष्य का चिन्तन। उसके सामाजिक ढांचे का चिन्तन। मै देख रहा था कि प्रवाह को रोका जाएगा तो वह रुकेगा नहीं। समय का प्रवाह इतना तीव्रगामी है कि वह इमारतो को उखाडकर फेंक देगा, पर अपना रास्ता अवश्य बनाएगा। ऐसी स्थिति मे परिवर्तन समय की मांग है। चिन्तनपूर्वक परिवर्तन करने वाला आगे बढ़ जाएगा।

दो स्थितियों के बीच में

मैं जिस धर्मसघ का नेतृत्व कर रहा हूं, वह जैन श्वेताम्वर तेरापंथ धर्मसंघ के नाम से पहचाना जाता है। एक आचार्य का नेतृत्व और एक सविधान का पालन—अन्य जैन सघो से इसकी स्वतंत्र पहचान है। इस धर्मसघ मे आचार्य 'सर्वोपरि' होते हैं। वर्तमान मे वह बदलाव के अनेक मोड़ो को पार कर प्रगति के पथ पर अपनी गति से बढ रहा है। किन्तु उस समय यह पूरी तरह से कट्टर और पुराणपथी था। न शिक्षा का आधुनिक विकास और न नई प्रवृत्तियां। पूर्वाचार्यो द्वारा खींची गई लकीरों पर चलना—इसी मानसिकता को प्रशस्त माना जाता था। मारवाड़ी में वोलना और लिखना—इतना-सा क्रम था। न साहित्य और न किसी नये सृजन की तैयारी। यद्यपि हमारे पूर्वाचार्यो ने अपने-अपने समय में काफी काम किया और उत्तरवर्ती आचार्यो को काम करने का पूरा अवकाश दिया, किन्तु समाज की मानसिकता कभी यह नहीं रही कि कोई आचार्य नई लकीरे खीचे, उनको सहजता से स्वीकार कर ले। विरोध और वितर्कणा के बाद आचार्यो का चिन्तन मान्य होता रहा है, पर प्रारम्भ मे कठिनाइयां कम नहीं आती।

उस समय मेरे सामने दो स्थितियां थीं—विरासत से प्राप्त अनुशासित एवं संगठित धर्मसंघ की सुरक्षा करना तथा धर्मसघ की मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए उसे युगीन विकास की दिशा देना।

इन दोनों स्थितियो के साथ एक नया दृष्टिकोण सामने आया। उसके अनुसार हमें तेरापंथ समाज तक ही सीमित न रहकर व्यापक सन्दर्भो मे काम करना था, पूरी मानव जाति को आध्यात्मिक पथदर्शन देना था।

दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त था, पर काम इतना सरल नहीं था। उसके लिए हमारी समुचित तैयारी भी नहीं थी। एक ओर वातावरण अनुकूल नहीं था तो दूसरी ओर साधु-साध्वियां कार्यकर्ताओ का निर्माण नही हुआ था। ऐसी स्थिति में इतना बड़ा काम हाथ मे लेना जोखिम भरा कदम उठाना था। किन्तु मैने निर्णय कर लिया कि परिस्थितियो की अनुकूलता की प्रतीक्षा में समय जाया किए बिना हमे काम शुरू कर देना चाहिए।

अपने निर्णय की क्रियान्विति से पहले मैने समाज को चिन्तन देना शुरू किया—शरीर की स्वस्थता और सुरक्षा के लिए मनुष्य को ऋतु के अनुसार परिवर्तन करना पडता है। वह अपनी वेशभूषा बदलता है, खानपान बदलता है, रहन-सहन बदलता है और दिनचर्या बदलता है। यह बदलाव न हो तो शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता। धर्मसंघ के स्वास्थ्य और विकास के लिए भी यह आवश्यक है कि हम मूल को सुरक्षित रखते हुए विवेकपूर्ण परिवर्तन करे।

जिस समय मैने धर्मसघ के सामने उक्त विचार प्रकट किए, मेरे पास एकमात्र गुरुकृपा का संबल था। उसके सहारे मैने चिन्तन को विस्तार दिया और विरोधों-अवरोधो के बावजूद मुझे अपने सम्पूर्ण धर्म-परिवार का सक्रिय सहयोग मिला। उस सहयोग से मेरी कार्यक्षमता बढी और एक के बाद एक नये-नये कार्यो का प्रारम्भ होता गया।

अणुव्रत

मैने सबसे पहले अणुव्रत का काम हाथ मे लिया। व्यापक कार्यक्षेत्र मे प्रवेश करने का वह प्रथम अवसर था। अनुकूल और प्रतिकूल दोनो प्रकार की प्रतिक्रियाओ ने मुझे कुछ क्षण आत्मचिन्तन के लिए प्रेरित किया। चिन्तन के क्षणो मे कभी-कभी ऐसा महसूस हुआ कि सिर पर से एक झंझावात गुजर रहा है। गुरुकृपा से वह भी पार हो गया। 'अणुव्रत' मिशन को लक्ष्य बनाकर मैने देशव्यापी यात्राएं की। पजाब से कन्याकुमारी और कच्छ से कलकत्ता तक लगभग पचास-साठ हजार किलोमीटर की पदयात्राओ मे लाखो-लाखो लोगो से सीधा सम्पर्क किया। परिचय बढ़ा, अनुभव बढ़े और नई दृष्टियां मिली। अणुव्रत का उद्देश्य है मनुष्य को सही अर्थ मे मनुष्य बनाना। इसके लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की गई, उसमे अहिसा,

आक्रमण, मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता, व्यसन-मुक्ति, रूढ़ि-मुक्ति तथा आर्थिक और राजनीतिक भ्रष्टाचार से मुक्त रहने की दृष्टि से ग्यारह नियम हैं। नियम बहुत सामयिक और उपयोगी हैं, पर केवल उपदेश के आधार पर उनका पालन हो सके, यह संभव नहीं लगा। संकल्पशक्ति की शिथिलता भी एक कारण थी, जो व्रतों के प्रति निष्ठा होने पर भी आचरण तक पहुंचने में बाधक बन रही थी। इस स्थिति में प्रायोगिक दृष्टि से सोचने की जमीन तैयार कर दी।

प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान

व्रत या धर्म को जीवनगत बनाने की एक प्रायोगिक प्रक्रिया है—प्रेक्षाध्यान। लगातार पन्द्रह वर्ष की खोज और प्रयोग से परिपक्व इस प्रक्रिया से धर्म के क्षेत्र मे क्रान्ति की नई लहर आ रही है। इस ध्यानपद्धति का प्रभाव नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितत्र पर होता है। इससे ग्रन्थियो के स्राव वदलते हैं। यह स्वभाव-परिवर्तन अथवा व्यक्तित्व के रूपान्तरण का प्रयोग है। वर्षो से बनी हुई अवांछनीय आदतों को उपदेश के सहारे मोड देने मे सफलता नहीं मिलती, पर दस दिनो के प्रेक्षाध्यान से व्यक्ति उन आदतो से काफी अशो में मुक्त हो जाता है। सिगरेट और शराब का व्यसन ध्यान के अभ्यास से छूट जाता है। गुस्सा, निराशा आदि आवेगों पर इसके द्वारा नियंत्रण किया जा सकता है। सरल उपाय और प्रत्यक्ष लाभ। इसमें श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, लेश्याध्यान, योगासन, कायोत्सर्ग आदि का निश्चित अभ्यासक्रम है। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अनेक प्रकार के लाभ होते है, पर इसके प्रयोग का मूलभूत उद्देश्य है चित्त की निर्मलता। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से क्या होता है, कैसे होता है आदि प्रश्नो का उत्तर शब्दों से नहीं, क्रिया से लेना जरूरी है। किसी के मन मे जिज्ञासा हो, दस दिन अभ्यास करके देख ले, परिणाम अपने आप सामने आ जाएगा। प्रेक्षाध्यान का यह कार्यक्रम भी अणुव्रत की भांति व्यापक हो गया। इस काम को प्रमुख रूप से मेरे उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ चला रहे है। उनके निदेशन में अनेक प्रशिक्षक तैयार हो गए हैं। प्रवुद्ध वर्ग मे प्रेक्षाध्यान के प्रति सर्वाधिक आकर्पण है। इसका साहित्य भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। यह अणुव्रत का पूरक कार्यक्रम है।

प्रेक्षाध्यान का ही एक विशेष प्रयोग है—जीवन-विज्ञान। नई शिक्षानीति पर हुई वहस के दौरान इसकी प्रासंगिकता बढ़ गई। यह बच्चो के बौद्धिक और भावनात्मक विकास के संतुलन का उपक्रम है। शिक्षाधिकारियों एव शिक्षकों के बीच जीवन-विज्ञान के अनेक शिविर आयोजित हो चुके हैं। इसकी पाठ्यपुस्तकें भी तैयार हो गई हैं। कुल मिलाकर यह एक ऐसा काम है, जिसकी आज बहुत अधिक अपेक्षा है।

अन्य प्रवृत्तियां

कुछ-न-कुछ करते रहना मेरे जीवन की हॉबी हो गई। अपने कार्यक्रमों को सचालित करने और स्थायित्व देने मे अब मुझे अपने साधु-साध्वियो और समाज का पूरा सहयोग प्राप्त है। समाज मे ऐसी कई संस्थाएं खड़ी हो गई हैं, जो अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि लोकहितकारी व्यापक कार्यक्रमो को आगे वढ़ा रही हैं। जैन विश्वभारती एक ऐसी संस्था है, जहा एक साथ सात प्रवृत्तियों का संचालन होता है। शिक्षा, साधना, शोध, सेवा, साहित्य, संस्कृति और समन्वय के क्षेत्र मे यह संस्था अपने ढंग से काम कर रही है। पारमार्थिक शिक्षण संस्था आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए इच्छुक भाई-वहनो की शिक्षा, साधना आदि सारी जिम्मेवारिया आत्मनिर्भर होकर निभा रही है। समणश्रेणी मेरे जीवन के एक चिरपालित स्वप्न का सफलीकरण है। साधु और गृहस्थ के बीच की यह कड़ी मेरे कार्यक्रमो को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक पहुचाने मे सक्षम हो सकती है। साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से नैतिक एवं आध्यात्मिक विचारो को जन-जन तक पहुचाने का काम भी काफी व्यवस्थित रूप मे चल रहा है। यात्रा और जनसपर्क का जो सिलसिला लगभग चालीस वर्ष पूर्व शुरू किया था, वह उत्तरोत्तर वर्धमान गति से चल रहा है।

मानवता के लिए समर्पण

तव से अब (सन् १६१४-१६८७) तक मैंने जो कुछ देखा, समझा, अनुभव किया और काम किया, वह एक-एक कर मेरी आखो के सामने आ रहा है। कहां वह छोटा-सा दायरा और कहां यह व्यापकता! कहां वे जीवन के रास्ते में आने वाले आरोह-अवरोह और कहां यह सीधा रा

ठहराव के क्षण और कहां यह जीवंत आन्दोलन! कहां वह कल्पनाओं की खूबसूरती और कहां कष्ट, संघर्ष व आशा-निराशा के सम्मिश्रण से जनमी हुई कठोरता। इन सबको देखते-देखते सवेदनाओं का एक अथाह सागर मेरे सामने लहरा रहा है। आज जो कुछ मै देख रहा हूं, कर पा रहा हूं, उसके पीछे गहरी तपस्या और साधना है। कितनी कठिनाइयों को पार कर मैं आज इस स्थिति में पहुंचा हूं। उस समय अगर मैं कठिनाइयों मे उलझ जाता तो आगे नहीं बढ़ पाता, काम नहीं कर पाता। वर्तमान की उलझन भविष्य को सवार जाती है, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है।

उलझनें अब भी आती है, पर आज स्थिति दूसरी है। उस समय हमारे कार्यक्रमों की मजाक होती थी, आज उनको राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिल चुकी है। मेरी आकाक्षाएं अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं। मैं जब तक जीवित रहूं, मानवता के लिए सगर्पित रहकर जीऊं और अविश्रान्त भाव से काम करता रहूं, यह मेरी बड़ी आकाक्षा है। जीवन के तिहत्तर वसन्तों का सफर तय कर मैं चौहत्तरवें वसन्त में प्रवेश कर रहा हूं। मैं जानता हूं कि समय को किसी लॉकर में बन्द करके रखा नही जा सकता। यह अपनी गति से बहता रहेगा। मेरी जीवनयात्रा के इस बहाव मे किसी भी मोड़ पर ऐसा ठहराव न आए, जहां मैं मानवता की सेवा से वचित रह जाऊं। अपनी पूरी जिन्दगी को मानवता के लिए समपित कर मैं निश्चिन्त हूं। मानव-मानव के सुख-दुःख की जीवत भागीदारी को महसूसता हुआ मै अपने जीवन के अग्रिम वर्ष को अधिक सक्रिय देखना चाहता हूं।

उद्देश्यपूर्ण जीवन : कुछ पड़ाव

अरस्तु के शिष्य ने अपने गुरु से उन्नति का रास्ता पूछा। गुरु ने एक क्षण शिष्य की आंखों में झांका। वहां घनीभूत जिज्ञासा तैर रही थी। अरस्तु ने उन्नति की एक व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा—

- अपना दायरा बढ़ाओ। संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे बढ़कर सामाजिक बनो।
- आज की उपलब्धियो पर सन्तोष करो और भावी प्रगति की आशा करो।
- दूसरों के दोष ढूंढ़ने में शक्ति खर्च न करके अपने को ऊंचा उठाने के प्रयास में लगे रहो।
- कठिनाइयों को देखकर न चिन्ता करो, न निराश बनो, वल्कि धैर्य और साहस के साथ उसके निवारण का उपाय खोजने मे जुट जाओ।
- हर किसी मे अच्छाई खोजो और उससे कुछ सीखकर अपना ज्ञान और अनुभव बढ़ाओ।

उक्त पाच सूत्रों में अरस्तु ने उन्नति का जो रास्ता बताया है, वह उन सबको मजिल तक पहुंचा सकता है, जो निष्ठा के साथ इस पथ की यात्रा करें। रास्ता मिलने के बाद भी गति न हो तो उन्नति की संभावना क्षीण होती जाती है। प्रगति के लिए गति की अनिवार्यता है। सोए हुए सिंह के मुह मे मृग प्रवेश नहीं करते। पुरुषार्थ के विना सफलता नहीं मिलती। लक्ष्य छोटा हो या बड़ा, उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ की सीढ़ियों पर चढना ही होगा।

व्यक्तित्व-निर्माण के तीन घटक है—व्यक्ति की कल्पनाशीलता, पुरुपार्थ

और समसामयिक परिस्थितियां। परिस्थितियों की अनुकूलता किसी विरल व्यक्ति को ही प्राप्त होती है। अधिसंख्य लोग उनसे जूझते-जूझते आगे बढ़ते हैं। जो व्यक्ति कुछ करना चाहते है, वे परिस्थितियों के तटस्थ साक्षी बनकर नहीं बैठते। अपनी चेतनागत भागीदारी से वे परिस्थिति को मोड देते हैं, नकारात्मक दृष्टिकोण को बदलते हैं और रचनात्मक कार्यो में अपनी ऊर्जा का उपयोग करते हैं।

परिस्थितियां सामान्यतः तीन प्रकार की होती हैं—राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक। तीनों का जीवन पर कमोबेश असर होता है। उस असर को कोई महसूस करे या नहीं, व्यक्तित्व के अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों पर समसामयिक व्यक्तियों, विचारों और घटनाओं का प्रभाव पड़ता है।

सात दशक पहले

आज से सात दशक पहले का समय, जब मैं पालने में खेला करता था, राजनैतिक स्थिरता का समय नही था। परतंत्र भारत में स्वतन्त्रता की लडाई शुरू हो गई थी। तब तक उसकी गति काफी धीमी थी, पर जन-चेतना का जागरण हो गया था। जब से महात्मा गांधी ने उस संघर्ष को अपना नेतृत्व देना शुरू किया, उसकी गुणवत्ता बढ़ गई। एक ओर दमनचक्र चल रहा था, दूसरी ओर असहयोग आन्दोलन एवं सत्याग्रह जैसे अहिंसात्मक उपक्रम चल रहे थे। बहुत कशमकश की स्थिति निर्मित हो गई थी।

उस समय के सामाजिक मानदण्डो में भी बहुत रूढता थी। परम्परावादी दृष्टिकोण, अन्धविश्वास और भेड़चाल के कारण नये मूल्यो का समाज मे प्रवेश कठिन हो रहा था। शिक्षा की कमी के कारण पर्दाप्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, मृत्युभोज आदि कुरूढ़ियो की जडें काफी गहरी हो गई थी। महिलाओं के प्रति समाज का दृष्टिकोण उदार नहीं था। विधवा महिलाओ को प्रताड़ित जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता था। सामाजिक रीति-नीति का निर्धारण पंचायत व्यवस्था के अधीन था। वर्षो से जो कुछ जिस ढंग से चल रहा था, उसे उसी रूप में आगे खींचने का प्रयास हो रहा था।

धर्म को जीवन के लिए आवश्यक माना जाता था, पर उसमें भी रूढता

आ गई थी। वह पूजापाठ और क्रियाकाण्डों में सिमटकर रह गया था। अलग-अलग खेमो मे बंटने के कारण समय-समय पर धार्मिक संघर्ष भी उभर जाते थे। धर्म के अनुयायियों मे विचारभेद के आधार पर सम्प्रदायों का उदय कोई अवांछनीय घटना नहीं है। पर जब सम्प्रदाय लड़ाई के अड्डे बन जाते हैं, तब धर्म का तेज फीका पड़ जाता है। धर्म-सम्प्रदायों के बीच चलने वाला संघर्ष जब हिंसा के शिखर पर पहुंच जाता है, वहां धर्म की उपयोगिता संदिग्ध हो जाती है। धर्म की मौलिकता को नष्ट किए बिना अपनी-अपनी उपासना पद्धति से धर्माराधना की जाए तो कोई भी सम्प्रदाय समाज पर बुरा प्रभाव नहीं छोड़ता।

विरासत की सुरक्षा और विस्तार

उन दिनो जैन धर्म मे प्रमुख रूप से चार धर्म सम्प्रदाय सक्रिय थे—दिगंबर, सवेगी, स्थानकवासी और तेरापंथ। तेरापंथ एक छोटा-सा संप्रदाय था। पर उसके नीचे की जमीन बहुत ठोस थी। आचार्य भिक्षु इस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य थे। उनकी सूझ-बूझ अनूठी थी। उन्होने अपने समय के अनेक धर्म-सम्प्रदायों के अन्तः संघर्ष को निकट से देखा था। उन्होंने किसी सम्प्रदाय को स्थापित नही किया। पर तेरापंथ की यह नियति थी कि वह बिना किसी विशेप प्रयास के स्थापित हो गया। जव सम्प्रदाय वन गया तो उसे सुव्यवस्थित और सुसगठित करने मे आचार्य भिक्षु ने अपने अनुभवों का सहारा लिया। उन्होने उन सव परम्पराओं की जड़ें काट दी, जिनके कारण आचार और संगठन में शिथिलता आने की सभावना थी। भयकर कष्टो का मुकाबला करके भी उन्होने उन आदर्शो को सुरक्षित रखा, जो तेरापंथ धर्मसघ को अलग पहचान देने वाले थे। एक आचार्य के नेतृत्व में तेरापथ की परम्परा आगे वढ़ने लगी।

लगभग डेढ सौ वर्पो के अन्तराल में तेरापथ की परम्परा में आठ आचार्य हुए। सव आचार्यो ने अपने युग मे धर्मसंघ को संरक्षण और संवर्धन देने का काम किया। आठवें आचार्यश्री कालूगणी का समय भी एक दृप्टि से चली आ रही परम्पराओं को पोपण देने का समय था। फिर भी उस काल मे संघ का विस्तार शुरू हो गया था। एक ओर साधु-साध्वियों की सख्या मे वृद्धि हुई। दूसरी ओर शिक्षा के क्षेत्र में नये आयाम खुले। हिन्दी,

अंग्रेजी आदि भाषाओं का अध्ययन उस समय तक मान्य नहीं हुआ था। पर संस्कृत के माध्यम से व्याकरण, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश हो चुका था।

पूज्य कालूगणी के व्यक्तित्व में कोई जादू था। बहुत छोटी उम्र में ही मैं उनसे प्रभावित हो गया। मैंने उनका शिष्य बनने का सपना देखा और जल्दी ही मेरा सपना साकार हो गया। एक जैन मुनि की साधना के अनुरूप मेरी जीवनचर्या शुरू हो गई। साधना के साथ शिक्षा का क्रम भी चला। ग्यारह वर्षो तक मुझे पूज्य गुरुदेव के चरणों में रहकर धर्म-साधना और ज्ञानाराधना करने का सौभाग्य मिला। अचानक गुरुदेव अस्वस्थ हुए और उन्होंने धर्मसंघ का समूचा दायित्व मुझे सौंप दिया। इस घटना के तीन दिन बाद ही उनका स्वर्गवास हो गया। उस समय मैं बाईस वर्ष का युवा था। अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के समय एक विशाल धर्मसंघ के संचालन की जिम्मेदारी ने मुझको पूरी तरह से जागरूक बना दिया। विरासत में मिले धर्मसंघ को पूर्ण रूप से संरक्षण देने के साथ उसे अधिक शक्तिसम्पन्न, कर्मसम्पन्न और गतिसम्पन्न बनाना मेरा लक्ष्य था। इस दृष्टि से मैंने अपनी तैयारी शुरू कर दी।

वह व्यक्ति समझदार कहलाता है, जो समय की नब्ज देखकर चलता है। मैं समझदारी का दावा तो नहीं करता, पर मैंने समय की आहट को सुनने की काफी सावधानी बरती। उन दिनों देश की युवा पीढ़ी मे धर्म की अवधारणाओं को लेकर काफी उथल-पुथल मची हुई थी। वह धर्म के रूढ और क्रियाकाण्डी रूप से संतुष्ट नहीं थी। धर्म के क्षेत्र में रूढता की घुसपैठ होने के कारण पूरे धर्म को ही नकारना उचित नहीं था। फिर भी युवा मानस में उभरी हुई सुगबुगाहट को उपेक्षित करना संभव नही था। मैंने उस सम्बन्ध मे थोड़ा-सा चिन्तन किया। उलझन वाली कोई बात नहीं थी, क्योंकि मेरे सामने आचार्य भिक्षु द्वारा व्याख्यायित धर्म का प्रकाश था। उन्होंने अपने समय मे धर्म पर आयी रूढता की परतों को दूर कर उसे लोकजीवन के साथ जोड़ने का एक अद्भुत काम किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप में उद्घोषणा की—'त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है।' इसी उद्घोषणा के आधार पर धर्म को सार्वजनीन बताते हुए उन्होने कहा—'कोई व्यक्ति जैन है या नहीं, वह स्वयं को किसी धर्म का अनुयायी मानता है या नही,

पर उसका जो त्याग है, संयम है, व्रत है, वह धर्म है।' इस अवधारणा का भयंकर विरोध हुआ। पर वे ऐसे फक्कड़ सन्त थे, जो विरोधों को चीरकर आगे बढ जाए।

धर्मक्रान्ति का फलित

आचार्य भिक्षु से जो प्रकाश-किरण मुझे मिली थी, उसके आलोक मे देखने पर लगा कि लोग धर्म के साथ सौदा कर रहे हैं। वे दिन भर ऑफिस और दुकान मे बैठकर गलत काम करते हैं, पर सांझ होते ही मंदिर या धर्मस्थान में जाकर अनुभव करते हैं कि उनका पाप साफ हो गया है। रिश्वत लेते समय तथा अनैतिक तरीकों से व्यापार करते समय वे प्राप्त होने वाले लाभ में भगवान् या धर्म का हिस्सा रखते है। ऐसे लोग भी इस संसार में है, जो झूठ वोलते है, चोरी करते हैं, शराब पीते हैं, रुपये-पैसे के प्रलोभन से वोट लेते हैं, सामाजिक कुरूढियों को शान के साथ निभाते है और अपने आपको धार्मिक मानते है। क्योंकि वे मदिर में जाते हैं, पूजापाठ करते है और अछूत के हाथ का पानी नही पीते। तरस आता है उन लोगो की वुद्धि पर। क्या ऐसी धार्मिकता से उनका कल्याण हो सकता है? इन सब स्थितियो को देखकर मन में आया कि आज धर्म मे भी क्रान्ति की जरूरत है।

धर्म में क्रान्ति की अपेक्षा तब हुई जब वह इस लोक की चिन्ता छोडकर केवल परलोक सुधारने की बात करने लगा। धर्म में क्रान्ति की वात तव आयी जव वह समस्या का समाधान देने के स्थान पर स्वय समस्या वन गया था। धर्म-क्रान्ति की प्रासगिकता तब प्रमाणित हुई जव धर्म प्रयोग की वात भूलकर रूढ उपासना में कैद हो गया था। ऐसे धर्म के प्रति वौद्धिक लोगो के मन में कोई आकर्पण नही रहा। उस धर्म के प्रति भी प्रवुद्ध व्यक्ति की आस्था केन्द्रित नही हो सकती, जो सम्प्रदायों को लोहावरण वनाकर पारस्परिक सद्भावना को विखडित कर देता हो। जव धर्म की तेजस्विता इन-इन कारणो से धूमिल होने लगी, तव मैने अपनी दृष्टि से धर्मक्रान्ति की वात की। अणुव्रत एक प्रकार से धर्मक्रान्ति का ही फलित है। आज यह सम्प्रदाय-विहीन धर्म के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है।

मै एक सम्प्रदाय की आस्था से वंधा हुआ हूं। पर सम्प्रदाय को ही सव

कुछ नहीं मानता। सम्प्रदाय छिलका है, सुरक्षा-कवच है। उसका उतना ही महत्त्व है, जितना फल की सुरक्षा के लिए छिलके का होता है। धर्म सदा सम्प्रदाय से ऊपर रहता है। इसी दृष्टि से मैं अणुव्रत को सम्प्रदायविहीन धर्म कहता हूं। अणुव्रत सही अर्थ में ऐसा है या नहीं, यह बात उसकी आचार-संहिता का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है। आचार-संहिता का स्वरूप इस प्रकार है :

१. मैं किसी भी निरपराध प्राणी की हत्या नहीं करूंगा।
२. मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा। आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा। विश्व-शान्ति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।
३. मै हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
४. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा—जाति रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा, अस्पृश्य नहीं मानूंगा।
५. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
६. मैं व्यवसाय और व्यवहार मे प्रामाणिक रहूंगा।
७. मैं ब्रह्मचर्य तथा इन्द्रिय-संयम का क्रमिक विकास करूंगा।
८. मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
९. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
१०. मै मादक तथा नशीले पदार्थो—शराब, गांजा, चरस, हेरोइन आदि का सेवन नही करूंगा।
११. मैं व्यसन-मुक्त जीवन जीऊंगा।

अणुव्रती बनने का अधिकारी वह व्यक्ति है, जिसकी नैतिक एवं प्रामाणिक जीवन में आस्था है। इसमे वर्ण, जाति, भाषा, प्रान्त, लिंग, रंग आदि का कोई भेदभाव नही है। मेरे अभिमत से धर्मोपासना का अधिकार भी उसी को मिलना चाहिए, जो नैतिक जीवन जीता है। जीवन में अनैतिकता रहे, वेईमानी रहे और धार्मिकता भी रहे—यह विसंगति जव तक दूर नहीं होगी, धर्म का वर्चस्व निखर नहीं सकेगा।

धर्म सम्प्रदाय नही, जीवन की पवित्रता है। धर्म उपासना नही, आचरण

है। धर्म अगले जन्म के लिए ही नहीं, वर्तमान जीवन के लिए है। इन तथ्यो की सचाई परखने के लिए अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान— इस त्रिसूत्री कार्यक्रम को समझना बहुत जरूरी है। अणुव्रत की भांति प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान भी असाम्प्रदायिक कार्यक्रम हैं। जैन-अजैन सभी लोग इनसे लाभान्वित हो रहे हैं। मेरे उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ इन कार्यक्रमो को विशेष उद्देश्य के साथ संचालित कर रहे हैं। उन्हें अपने काम मे पूरी सफलता मिल रही है।

कुछ मीठे : कुछ कड़वे

२४ अक्टूबर १९८७ को मैं अपने जीवन के ७३ वर्ष संपन्न कर ७४ वे वर्ष में प्रवेश कर रहा हूं। लगभग सात दशक का पूरा जीवन मेरे सामने है। इस जीवन में मैंने मीठे और कडवे दोनो प्रकार के अनुभव किए हैं। अनुभवों की मिठास मेरे मन को सहज उल्लास और सात्विक गौरव की दीप्ति से भर रही है, वहा अनुभवो की कड़वाहट मुझे जीवंत प्रेरणा-सी लग रही है। जीवन की सफलता में इन दोनों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। भोजन में मिष्ठान्न रुचिकर लगता है पर मीठा-ही-मीठा खाने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। करेला कड़वा होता है, नीबू खट्टा होता है, पर स्वास्थ्य के लिए इन्हें वहुत उपयोगी माना गया है। जीवन के मीठे-कड़वे अनुभव भी व्यक्तित्व-निर्माण मे अहम भूमिका निभाते हैं।

मेरे अनुभवो की मिठास मुझे कई दशक पीछे ले जाती है, जब मैंने मानवधर्म के रूप में एक सार्वजनिक अभियान चलाया, महिला जाति के जागरण मे श्रम किया, धर्मसंघ में शिक्षा के विकास-हेतु पुरुषार्थ किया, साहित्य के क्षेत्र मे नये आयाम खोले, साधु और गृहस्थ के मध्य सेतु के रूप मे समणश्रेणी का सूत्रपात किया, पदयात्राओं के दौरान व्यापक जन-सम्पर्क किया, जैन विश्वभारती के माध्यम से शिक्षा, शोध, साधना, संस्कृति आदि को वहुमुखी विस्तार देने का प्रयास किया, और भी न जाने कितनी छोटी-वडी प्रवृत्तियो को जन्म दिया। मैं अपने जीवन के उन क्षणो को सवसे अधिक सार्थक मानता हूं, जो लोकहित के लिए समर्पित हुए।

मै अपने जीवन के उन क्षणो को भी व्यर्थ नही मानता, जिन्होंने मुझे

कड़वाहट के साथ स्वास्थ्य दिया, प्रतिरोधात्मक शक्ति और व्यापकता दी। कुछ व्यक्ति मुझे शास्त्रार्थ में पराजित करने आए। उन्होंने अपने मन की भावना खोलकर रख दी। उनकी सरलता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने उनसे कहा—'इतनी-सी बात के लिए इतना बड़ा उपक्रम क्यों किया जाए? मैं बिना शास्त्रार्थ ही अपने आपको पराजित स्वीकार करता हूं।' पता नही, मुझे यह बात क्यों सूझी? पर इस घटना से वे प्रतिहत हो गए। दूसरी बार जब वे आए, पूरी तरह से भक्त बन चुके थे।

मैंने अणुव्रत का कार्यक्रम चलाया, लोगों ने विरोध किया अस्पृश्यता-निवारण का अभियान चलाया, विरोध के स्वर तेज हो गए। 'नॅयामोड़' कार्यक्रम के तहत विधवाओं की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया, विरोध हुआ। साहित्य लिखा तो उसका विरोध किया गया। सकारण-अकारण केवल विरोध के लिए विरोध होता रहा और मैं होंठ सी कर उसे सहता रहा। मैंने एक नीति तय कर ली कि छिछले स्तर के किसी विरोध का उत्तर नही देना है। स्तरीय आलोचना को मैंने सदा गंभीरता से लिया और उसका अच्छे ढंग से उत्तर भी दिया। पर कीचड़ में पत्थर फेंकने की बात मुझे रुचिकर नहीं लगी। नये स्वप्न देखना और नये काम करना मेरी नियति है, वैसे ही पग-पग पर विरोध का मुकाबला करना भी मेरी नियति है। अन्तरंग और बहिरंग— दोनो ओर से जितना और जैसा मेरा विरोध हुआ, कम लोगो का होता होगा। उन सब कड़वे अनुभवों को भी मै अपने जीवन की बहुत बड़ी संपदा मानता हूं, क्योकि उनसे मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला है।

इस मिठास और कड़वाहट के बीच मैं यह भी अनुभव करता हूं कि हमने जितना श्रम किया, परिणाम उतना नहीं आया। क्यो नही आया? श्रम बहुआयामी हो गया। यदि हम एक-दो दिशाओं मे केन्द्रित होकर काम करते, सफलना का अनुपात बढ़ जाता। इस दृष्टि से कई वार चिन्तन भी किया, पर शुरू किए हुए किसी भी काम को छोड़ने की स्थिति नही थी। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान, साहित्य, शिक्षा, यात्रा, जनसंपर्क, महिला-जागरण आदि कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं है, जिसे वीच मे छोडा जा सके। पर यह निश्चित है कि प्रारंभ से ही केन्द्रित होकर काम किया जाता तो उसका फल कुछ दूसरा ही होता।

मेरी साधना, तपस्या और पुरुषार्थ का मूलभूत उद्देश्य है सत्य से साक्षात्कार करना। पर चूकि मै जनता के बीच में रहता हूं, इसलिए जनहित को भी ओझल नहीं कर सकता। आत्महित के साथ जनहित को ध्यान मे रखने की प्रेरणा मुझे भगवान् महावीर से मिली। उन्होने वारह वर्प तक कठोर तपस्या कर सत्य को पाया। सत्य की प्राप्ति होते ही वे एकान्त छोड़कर जनता के वीच में आ गए। उन्होंने किसी वर्ग विशेष के लिए सत्य का उपदेश नहीं दिया। क्योकि सत्य सवा एक और अखण्ड होता है। वह कभी टुकड़ो मे वंटता नही। जो लोग सम्प्रदाय, जाति आदि के आधार पर सत्य को वांटते हैं, वे उसके साथ न्याय नही करते।

भगवान् महावीर द्वारा निरूपित 'सत्य' आज जैन धर्म की सीमा में आ गया है। इस कारण करोड़ों लोग उस सत्य को पहचानने और पाने में हिचक रहे है। जबकि जैन धर्म के सिद्धान्त विश्वधर्म या जनधर्म की गरिमा पाने जैसे है। यह वात मुझे एक वार काका कालेलकर ने भी कही थी। जैन धर्म के सिद्धान्तों में जीवन और जंगत् की अनेक समस्याओ का समाधान निहित है। आज हमारे सामने हिंसा, आतंक, संग्रह, शोपण आदि की जितनी वडी समस्याए है, उनका सीधा समाधान अहिसा और अपरिग्रह मे है। वैचारिक आग्रह और हिंसा का समाधान अनेकान्त मे है। आज आवश्यकता इस वात की है कि हम इन सिद्धांतो की वैज्ञानिकता को ससार के सामने प्रमाणित करे।

जैन धर्म के सिद्धान्तो को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक पहुंचाने के लिए ऐसे विद्वानो की जरूरत है, जो सादा और सयत जीवन जीते हुए देश-विदेश मे काम कर सकें। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम तैयार कर लिया गया है। उस पाठ्यक्रम के अनुसार दो वर्षो मे ऐसी अर्हता अर्जित की जा सकती है, जो इस योजना को क्रियान्वित कर सके। जैन विद्वानो का निर्माण और जैन धर्म का जनधर्म के रूप मे प्रसार कर उसे लोकचेतना के साथ जोड़ना मेरा एक छोटा-सा सपना है। इस स्वप्न की पूर्ति के लिए मै उन सव लोगों के सहयोग की अपेक्षा रखता हू, जो मानवजाति की सेवा के लिए संकल्पित है। उन सवके साथ मिल-वैठकर एक ऐसी सार्थक योजना वनाई जाए तो

कड़वाहट के साथ स्वास्थ्य दिया, प्रतिरोधात्मक शक्ति और व्यापकता दी। कुछ व्यक्ति मुझे शास्त्रार्थ में पराजित करने आए। उन्होंने अपने मन की भावना खोलकर रख दी। उनकी सरलता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैंने उनसे कहा—'इतनी-सी बात के लिए इतना बड़ा उपक्रम क्यों किया जाए? मैं बिना शास्त्रार्थ ही अपने आपको पराजित स्वीकार करता हूं।' पता नहीं, मुझे यह बात क्यो सूझी? पर इस घटना से वे प्रतिहत हो गए। दूसरी बार जब वे आए, पूरी तरह से भक्त बन चुके थे।

मैंने अणुव्रत का कार्यक्रम चलाया, लोगों ने विरोध किया अस्पृश्यता-निवारण का अभियान चलाया, विरोध के स्वर तेज हो गए। 'नयामोड़' कार्यक्रम के तहत विधवाओं की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया, विरोध हुआ। साहित्य लिखा तो उसका विरोध किया गया। सकारण-अकारण केवल विरोध के लिए विरोध होता रहा और मै होठ सी कर उसे सहता रहा। मैंने एक नीति तय कर ली कि छिछले स्तर के किसी विरोध का उत्तर नहीं देना है। स्तरीय आलोचना को मैने सदा गंभीरता से लिया और उसका अच्छे ढंग से उत्तर भी दिया। पर कीचड़ में पत्थर फेंकने की बात मुझे रुचिकर नहीं लगी। नये स्वप्न देखना और नये काम करना मेरी नियति है, वैसे ही पग-पग पर विरोध का मुकाबला करना भी मेरी नियति है। अन्तरंग और बहिरंग— दोनो ओर से जितना और जैसा मेरा विरोध हुआ, कम लोगो का होता होगा। उन सब कडवे अनुभवों को भी मै अपने जीवन की बहुत बड़ी संपदा मानता हूं, क्योंकि उनसे मुझे वहुत कुछ सीखने को मिला है।

इस मिठास और कड़वाहट के बीच मै यह भी अनुभव करता हू कि हमने जितना श्रम किया, परिणाम उतना नहीं आया। क्यों नही आया? श्रम बहुआयामी हो गया। यदि हम एक-दो दिशाओं में केन्द्रित होकर काम करते, सफलना का अनुपात बढ़ जाता। इस दृष्टि से कई वार चिन्तन भी किया, पर शुरू किए हुए किसी भी काम को छोडने की स्थिति नही थी। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान, साहित्य, शिक्षा, यात्रा, जनसंपर्क, महिला-जागरण आदि कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं है, जिसे वीच मे छोडा जा सके। पर यह निश्चित है कि प्रारंभ से ही केन्द्रित होकर काम किया जाता तो उसका फल कुछ दूसरा ही होता।

अब क्या करना है

मेरी साधना, तपस्या और पुरुपार्थ का मूलभूत उद्देश्य है सत्य से साक्षात्कार करना। पर चूकि मैं जनता के बीच में रहता हू, इसलिए जनहित को भी ओझल नहीं कर सकता। आत्महित के साथ जनहित को ध्यान मे रखने की प्रेरणा मुझे भगवान् महावीर से मिली। उन्होने बारह वर्ष तक कठोर तपस्या कर सत्य को पाया। सत्य की प्राप्ति होते ही वे एकान्त छोड़कर जनता के वीच में आ गए। उन्होने किसी वर्ग विशेष के लिए सत्य का उपदेश नहीं दिया। क्योकि सत्य सदा एक और अखण्ड होता है। वह कभी टुकडो में बंटता नहीं। जो लोग सम्प्रदाय, जाति आदि के आधार पर सत्य को वांटते हैं, वे उसके साथ न्याय नहीं करते।

भगवान् महावीर द्वारा निरूपित 'सत्य' आज जैन धर्म की सीमा में आ गया है। इस कारण करोडो लोग उस सत्य को पहचानने और पाने में हिचक रहे हैं। जबकि जैन धर्म के सिद्धान्त विश्वधर्म या जनधर्म की गरिमा पाने जैसे है। यह वात मुझे एक बार काका कालेलकर ने भी कही थी। जैन धर्म के सिद्धान्तों में जीवन और जंगत् की अनेक समस्याओं का समाधान निहित है। आज हमारे सामने हिंसा, आतंक, संग्रह, शोषण आदि की जितनी बडी समस्याएं हैं, उनका सीधा समाधान अहिंसा और अपरिग्रह मे है। वैचारिक आग्रह और हिंसा का समाधान अनेकान्त में है। आज आवश्यकता इस वात की है कि हम इन सिद्धांतो की वैज्ञानिकता को ससार के सामने प्रमाणित करे।

जैन धर्म के सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक पहुंचाने के लिए ऐसे विद्वानों की जरूरत है, जो सादा और सयत जीवन जीते हुए देश-विदेश मे काम कर सकें। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम तैयार कर लिया गया है। उस पाठ्यक्रम के अनुसार दो वर्षो मे ऐसी अर्हता अर्जित की जा सकती है, जो इस योजना को क्रियान्वित कर सके। जैन विद्वानों का निर्माण और जैन धर्म का जनधर्म के रूप मे प्रसार कर उसे लोकचेतना के साथ जोड़ना मेरा एक छोटा-सा सपना है। इस स्वप्न की पूर्ति के लिए मै उन सब लोगों के सहयोग की अपेक्षा रखता हूं, जो मानवजाति की सेवा के लिए संकल्पित है। उन सबके साथ मिल-बैठकर एक ऐसी सार्थक योजना वनाई जाए तो

अविलम्ब परिणाम ला सके। इस पूरी प्रेरणा के साथ मैं एक वात को कभी विस्मृत नही कर पाता— वह यह कि मैं किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ूं, अपनी मौलिकता को पूरी तरह से सुरक्षित रखकर ही आगे बढ़ूं।

इस विचार-यात्रा के अन्त में मै एक बार पुनः इसके आदिविन्दु पर पहुंचता हूं, जहां अरस्तु ने अपने शिष्य को उन्नति के लिए पंचसूत्री निर्देश दिया। ऐसे निर्देश किसी भी व्यक्ति के जीवन में मील के पत्थर बन सकते हैं। मील के पत्थर सामने हों तो न भटकन का भय रहता है और न मजिल की अनभिज्ञता के कारण चलने मे थकान और निराशा का प्रसंग आता है। इस यात्रा मे कुछ ऐसे पड़ाव हैं, जो उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के इच्छुक किसी भी व्यक्ति को नई शक्ति और नई ताजगी दे सकते हैं। उस शक्ति और ताजगी के सहारे आगे की यात्रा अधिक सरल और सुखद हो, यही अभीष्ट है।

मेरी कृति : मेरा आत्मतोष

'साध्वीप्रमुखा' यह एक शब्द नया गढ़ा गया। पहले इस शब्द का प्रयोग नही हुआ था। जब साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा का निर्वाचन हुआ, तब इस शब्द को काम में लिया गया। यह घटना सन् १६७१ की है। इससे पहले प्रमुख साध्वी के रूप में काम करने वाली साध्वी को 'महासती' कहा जाता था।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा का चयन सलक्ष्य हुआ, अकल्पित हुआ। उस समय यह नाम किसी की कल्पना में ही नहीं था। जब मैने गंगाशहर में हजारों लोगो और सैकडों साधु-साध्वियों की उपस्थिति में इस नाम की उद्घोषणा की, सब अवाक् रह गए। पूरी सभा में आश्चर्यमिश्रित खामोशी छा गई। उस व्यापक मौन को तोड़ने वाली कुछ फुसफुसाहटें वायुमंडल मे थिरकने लगी—'कौन कनकप्रभा? यह कहां की है? कैसी है? कब दीक्षित हुई? क्या कर रही है? आदि प्रश्नो का सैलाब उमड आया।' उन प्रश्नो का उत्तर मुझे शब्दात्मक नहीं, क्रियात्मक रूप मे देना था। मुझे क्या, स्वयं कनकप्रभा को देना था।

तीस वर्ष की एक युवा साध्वी, जो अपने ग्यारह वर्ष के साध्वी-जीवन मे कभी आगे नहीं आयी, एकदम सामने आ गई। पांच सौ साध्वियों के समक्ष उसकी प्रस्तुति चौंकाने वाली थी। कुछ क्षणों तक ऐसा लगा मानो सब कुछ ठहर गया हो। सारी सभा चित्रलिखित-सी हो गई। कनकप्रभा स्वयं भी स्तब्ध रह गई। मेरे आह्वान पर वह सहमी हुई और घबराई हुई-सी आगे आयी। उस गुरुतर कार्य को संभालने के लिए वह कतई तैयार नहीं थी। वह स्वयं को इस रूप मे सक्षम मानती ही नही थी। उस अप्रत्याशित

घोषणा ने उसको जड़-सा बना दिया।

हमारे धर्मसंघ में आचार्य के कर्तृत्व पर सबको पूरा भरोसा होता है। हमारे यहां पुराने जमाने से ही यह कहावत चली आ रही है कि आचार्य 'कर्ता पुरुष' होते हैं। वे जैसा सोचते हैं, कर सकते हैं। कभी-कभी कार्य के प्रारम्भ में ऊहापोह होता है। पर सबका विश्वास यही है कि आचार्य जो कुछ करते हैं, वही ठीक है। इस विश्वास ने सबको शांत और खामोश बना दिया।

मैंने साध्वी कनकप्रभा को 'साध्वीप्रमुखा' की वन्दना कराई, लिखित नियुक्तिपत्र पढ़कर उसे सौंपा और एक नया रजोहरण दिया। उस स्थिति को पूरे धर्मसंघ ने शरीर के रोम-रोम से, अन्तर्मन से और असंख्य आत्मप्रदेशों से स्वीकार किया। साध्वियों के समूह खड़े होकर कृतज्ञता ज्ञापित करने लगे। 'पछेवड़ी' ओढ़ाने का सिलसिला शुरू हुआ तो देर तक चलता रहा। अब प्रारम्भ हुआ बधाइयों और अभिनन्दन का क्रम। साधुओं ने, साध्वियों ने व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से लगभग तीन घंटे तक यह क्रम चलाया। धर्मसंघ में उत्साह की नई लहर दौड़ गई।

प्रश्न हो सकता है कि पांच सौ साध्वियो में से मैंने कनकप्रभा का ही चयन क्यों किया? पता नही क्यों, मेरी धारणा बन गई थी कि तद्‌युगीन साध्वीसमाज के लिए यह वरदान सिद्ध हो सकती है। इसी आत्मविश्वास के आधार पर मैंने इसको इस आसन पर प्रतिष्ठित किया। उस समय इसे दीक्षित हुए कुल ग्यारह वर्ष हुए थे। इस अवधि में यह अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त रही। बहुत कम बोलती और बहुत कम लोगों से मिलती-जुलती। अपने आप में मस्त रहने वाली यह साध्वी इतनी मासूम थी कि थोडी-सी ऊंची आवाज सुनते ही इसके दिल की धड़कनें तेज हो जातीं। इतना सब होते हुए भी मुझे इसमें कुछ विलक्षणता दिखाई दी। उसी के कारण मेरा ध्यान इस पर केन्द्रित हुआ और मैंने ऐसा निर्णय लिया।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा को मैने जब से देखा, इसे सहज भाव से विनम्र पाया। इसका समर्पण अनौपचारिक है। सत्यनिष्ठा और पापभीरुता इसे प्रकृति से प्राप्त है। अभिमान इसे कभी छू तक नहीं सका। इसकी पाचन-क्षमता भी उल्लेखनीय है। भोजन को पचाना एक वात है, पर वात को पचाना बिलकुल अलग वात है। सामान्यतः स्त्रियो मे वात को हजम

करने की शक्ति बहुत कम होती है। पर इसके मुंह से बात निकलवाना कठिन है। मैने अपनी पारदर्शी दृष्टि से इन सबका आकलन किया। मुझे स्पष्ट दिखाई दिया कि साध्वीसमाज के लिए उपयोगी हो सकती है, इसी चिन्तन के आधार पर इसे 'साध्वीप्रमुखा' का गरिमापूर्ण दायित्व सौंपा। इसकी नियुक्ति के बाद पूर्ववर्ती सभी महासतीजी के लिए भी साध्वीप्रमुखा शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया।

पूर्ववर्ती साध्वीप्रमुखाओ के सामने प्रमुख रूप से एक ही काम होता था कि वे साध्वियो की गतिविधियों को आचार्यो तक पहुचा दें और आचार्यो के निर्देश को साध्वियो तक पहुंचा दें। इस अर्थ मे वे एक 'मीडिया' होती थीं। वर्तमान मे भी आचार्य के निर्देशो की क्रियान्विति ही साध्वीप्रमुखा का प्रमुख काम है। पर अव उसके दायित्व का कुछ विस्तार हो गया है। एक प्रबुद्ध साध्वीसमाज की आकांक्षाओं को समझना, उसमें नई आकांक्षाएं जगाना और आकांक्षाओं के अनुरूप व्यक्तित्व-निर्माण का अवसर देना बहुत बड़ा काम है। मात्र 'मीडिया' बनकर रहने से यह काम नही हो सकता।

आचार्यो के लिए साध्वियो की सारणा-वारणा का काम काफी जटिल होता है। कनकप्रभा की नियुक्ति के बाद यह काम बहुत सरल हो गया। इसका साक्षी मै स्वय हू। यद्यपि मेरे निर्देश के बिना यह कोई काम नहीं करती है। फिर भी इसकी समझ और सूझबूझ के कारण मुझे निर्देश देने में बहुत सुविधा रहती है। इस कारण मेरा मन इतना हल्का है, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा मेरी अपनी कृति है। मैंने इसको दीक्षित किया, और एक दायित्व सौंप दिया। अपनी कृति के बारे मे मै कुछ कहूं, कैसा ही लगता है। फिर भी कोई प्रसंग सामने आता है तो कुछ कहना जरूरी हो जाता है। यद्यपि यह बहुत संकोचशील है और अपने आपको 'रिजर्व' रखती है, फिर भी इसकी प्रकृति को मैने पढ़ा है। इसमे बौद्धिकता के साथ विनम्रता और कर्मशीलता का जो योग है, वह अद्‌भुत है। यह अपनी क्षमताओ को और अधिक बढ़ाए और उनका समुचित उपयोग करे।

दायित्व संभालने के बाद प्रारम्भ में इसको कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। कभी-कभी इसका मन उखड जाता। पर मैं इसको बराबर प्रेरित करता रहता। इस कारण यह अपने दायित्व के प्रति

सदा जागरूक रही। इसने अपने व्यवहारों से इतना विश्वास अर्जित कर लिया कि मुझे इसके बारे में कभी चिन्तन करने का अवसर ही नहीं मिला। इसकी संसारपक्षीया सहोदरी बहन साध्वी मंजुलाजी, जिसके साथ इसके सम्बन्ध बहुत मधुर थे, संयोगवश धर्मसंघ से पृथक् हो गई, फिर भी इसके प्रति मेरा विश्वास अटूट रहा। इसने मेरे विश्वास को अक्षुण्ण ही नहीं, प्रवर्धमान बनाकर रखा। यह इसके जीवन की एक विलक्षण घटना है।

आज का युग विकासशील है। साध्वियों को युग के अनुरूप ढालना, नये क्षेत्रों में आगे बढ़ाना, समणियों, मुमुक्षु बहनों, उपासिकाओं और महिलाओं को आध्यात्मिक मार्गदर्शन देना, महिला संगठनों को उपयुक्त दिशा-दर्शन देना, आगन्तुक यात्रियों की धार्मिक संभाल करना आदि अनेक कार्य हैं, जो साध्वीप्रमुखा को करने होते हैं। साहित्य-सृजन और साहित्य-संपादन का काम भी बहुत कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जयाचार्य द्वारा लिखित 'भगवती की जोड़' जैसे विशाल ग्रन्थ का सम्पादन यह कर रही है। मेरे साहित्य को सम्पादित करने का काम भी इसने अपने हाथ में ले रखा है। किसी भी प्रकार के भार का अनुभव नहीं करती हुई, यह इन सब प्रवृत्तियों में संलग्न है, जो अपने आप में एक साधना है।

हमारे संघ में साध्वियों और महिलाओं की आज तक हुई प्रगति से मैं संतुष्ट हूं, पर यह उनकी मजिल नहीं है। मध्यवर्ती पड़ावों पर विश्राम की अवधि लम्बी न हो जाए, प्रगति में ठहराव न आ जाए, इसके लिए निरन्तर सचेतन प्रयत्न की आवश्यकता है। धर्मसंघ के विकास की दृष्टि से मैंने जितने सपने देखे हैं, काफी स्वप्न साकार हो गए हैं। जो बाकी रहे हैं, उन्हें आकार देने मे साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा की सेवाएं मुझे सहजभाव से उपलब्ध होती रहेंगी, ऐसा विश्वास है।

अपूर्व रात : विलक्षण बात

१७ फरवरी, १९८७ : हम 'सेहला' गाव से चले और ७ किलोमीटर चलकर 'सातडा' (चूरू) पहुचे। राजपथ पर खडा सातडा गांव का उच्च माध्यमिक विद्यालय उस दिन हमारा पड़ाव-स्थल था। दिनभर लोगों का आवागमन होता रहा। मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर हुए अतिश्रम के कारण पिछले कुछ दिनो से स्वास्थ्य सामान्य नहीं था। डॉक्टर और वैद्य पूर्ण विश्राम के लिए अनुरोध कर रहे थे। निश्चित कार्यक्रम में थोड़ा परिवर्तन कर हम तीन दिन रतनगढ़ रहे। पर वहा रहना अच्छा नही लगा। मेरी मानसिकता विहार करने की थी। किसी तरह डॉक्टरो को सहमत किया और १५ फरवरी को रतनगढ से विहार कर दिया।

१७ फरवरी को हम सातडा में थे। वहा डॉ॰ श्यामसुखा और डॉ॰ विनायकिया ने दर्शन किए। सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद दोनों डॉक्टर मेरे सामने बैठे। महाप्रज्ञजी और मुनि मधुकरजी भी वहा उपस्थित थे। स्वास्थ्य को लेकर चर्चा चली। डॉक्टरों ने काफी विभीषिका दिखाई। उन्होंने महाप्रज्ञजी और मधुकरजी को सावधान करते हुए मेरी जीवन-पद्धति में बदलाव लाने की बात पर बल दिया। उन्होने कुछ बातें नोट करके दी—

- विहार औसतन पाच किलोमीटर से अधिक नही।
- विहार में गति धीमी हो।
- भोजन के बाद मध्याह्न का विहार न हो।
- विहार में बालू रेत से बचा जाए।
- विहार के समय साथ चलने वाले लोग कुछ दूरी पर चलें, ताकि रजकण न उडे।

- नाक में प्लास्टिक फिल्टर का प्रयोग करें, ताकि श्वास के साथ रजकण भीतर न जाएं।
- जहां तक हो सके, तनाव और दबाव से बचाव किया जाए।
- जहां तक हो सके, सीढ़ियां न चढ़ें।
- भोजन के बाद कम-से-कम एक घंटा पूर्ण विश्राम करें।
- प्रशासन का काम पूरी तरह से महाप्रज्ञजी को संभलवा दिया जाए।
- जो औषधि अभी चल रही है, उसमें किसी अनुभवी स्नातकोत्तर स्तर के डॉक्टर से परामर्श किये बिना कोई परिवर्तन न करें।

डॉक्टरों की बात मैंने भी सुन ली। मेरे मन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। मैं निश्चिन्त और निर्भार होकर लेट गया। लेटने के काफी समय बाद तक नींद नहीं आयी। मैं करवटें बदलता रहा। ऐसा कई बार हो जाता है, इसलिए दिमाग में कोई नया विकल्प पैदा नहीं हुआ।

लगभग साढ़े नौ बजे का समय था। मैं पूर्ण जागृत अवस्था में था। अचानक ऐसा अहसास हुआ कि कोई मुझे उठाकर बैठने की प्रेरणा दे रहा है। आंखें खोलकर इधर-उधर देखा। कुछ भी दिखाई नहीं दिया। सब सन्त लेटे हुए थे। मुनि बालचन्द पट्ट के पास बैठा था। शायद मुझे भ्रम हो गया; यह सोच मैंने पुनः आंखें बन्द कर लीं। फिर वैसा ही अहसास हुआ। मैं उठकर बैठ गया और नमस्कार महामन्त्र का जप करने लगा। जप करते-करते मैं उसी में लीन हो गया। मुझे अतिरिक्त आनन्द का अनुभव हुआ।

एक ओर मुझे आश्चर्य हो रहा था, दूसरी ओर मैं बार-बार कुछ पद्यों का स्मरण कर रहा था—

'सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सया जागरंति'

\+ +

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः

\+ +

इन पद्यों का स्मरण करते समय मुझे नींद न आने की बिलकुल चिन्ता

नहीं थी। चिन्तन था तो इतना ही कि यह सब हो क्या रहा है? मैं फिर जप में लीन हो गया।

इस बीच मुनि बालचन्द बोला—'ग्यारह बज रहे है।' मैने जप छोडकर ध्यान करना शुरू कर दिया। ध्यान शुरू करते ही एक बार मैंने सोचा—'आज नीद न आने का क्या कारण हो सकता है?' शरीर पर ध्यान केन्द्रित किया तो सब कुछ सामान्य था। न श्वास लेने में किसी प्रकार का अवरोध, न सिर में भारीपन, न शरीर मे दर्द और न कोई अन्य कारण। फिर भी आखो मे नीद नही थी। मैं श्वास प्रेक्षा करने लगा। ध्यान में मन अच्छी तरह रम गया। एक घटा का समय कब पूरा हो गया, पता नहीं चला। आखें खोली तो कमरे में मौन व्याप्त था। बडा अच्छा लगा। उस मौन को तोडते हुए मुनि बालजी ने कहा—'क्या बात है? स्वास्थ्य कैसा है? मुनि मधुकरजी को जगा दूं?' मैंने कहा—'चिन्ता की कोई बात नही है। स्वास्थ्य ठीक है। मुझे अभी ध्यान करना है।' ध्यान मे एक क्षण का व्यवधान भी अच्छा नही लगा। इस बार मै पद्मासन लगाकर ध्यान मे बैठ गया।

ध्यान जमा तो ऐसा जमा मानो मन के सारे विकल्प समाप्त हो गए। निर्विकल्प समाधि की अवस्था। मै अभिभूत हो गया। कुछ समझ मे नही आ रहा था कि क्या हो रहा है? पर कुछ-न-कुछ ऐसा घटित हो रहा था, जिसकी अभिव्यक्ति मौन से अधिक कुछ नही हो सकती। सातडा गांव की उस रात्रि मे मैने जिस अपूर्व और अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया, उस स्मृति मात्र से रोमांच हो आता है।

लगभग एक घटा पद्मासन मे बैठने के बाद मैंने आखे खोलकर चारो ओर देखा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई अदृश्य शक्ति मेरा सहयोग कर रही है। मैंने मन-ही-मन कहा—'कौन है? क्या है? कुछ प्रत्यक्ष दिखाई क्यों नही दे रहा है? मुझे लगता है कि कोई सहारा दे रहा है, पर वह दिखाई क्यों नहीं देता है? यह समाधि की स्थिति है अथवा और कुछ है? मेरे द्वारा क्या होने वाला है? कम-से-कम कोई ऐसा चिह्न ही प्रकट हो जाए जो मुझे प्रत्यक्ष आभास दे सके। मन-ही-मन बहुत पुकारा, पर कोई सामने नहीं आया। शब्दों की कुछ ऐसी आकृतियां उभरकर आयीं कि 'गहराई मे जाओ, आज ससार में जो मानवीय समस्याएं हैं, उनका समाधान करो।'

क्या मेरे द्वारा कोई समाधान होगा? इस प्रश्नचिह्न को विराम मिला, अपने ही भीतर से उठकर वहीं विलीन होने वाले नाद से—'हां, समाधान होगा, समाधान होगा।' वे शब्द कहां से आए और कहां गए, कुछ ज्ञात नहीं। बस इतना-सा याद है कि मैं उस समय बिलकुल हल्का हो गया था और ऐसा लग रहा था मानो मैं पट्ट से ऊपर उठ रहा हूं। मन में इच्छा जगी—'सारी रात ऐसे ही बिता दूं। पर पता नहीं क्यों मैंने ध्यान समाप्त कर दिया और महाप्रज्ञजी को बुला लाने का निर्देश दिया।'

तब तक मुनि मधुकर भी जाग चुका था। वह महाप्रज्ञजी को बुलाने गया। असमय में नींद से जगाने पर वे घबरा गए। उनका पहला प्रश्न था—'आचार्यश्री का स्वास्थ्य कैसा है?' स्वास्थ्य ठीक है, यह सुन वे आश्वस्त हो गए। उनके आने पर मैंने पूरा घटनाक्रम उनको सुना दिया। पूरी बात सुन वे बोले—'आप में अर्जित शक्तियां बहुत है। उनका उद्घाटन कभी-कभी ऐसे ही होता है। आप जिस निर्विकल्पता की स्थिति में हैं, वही आनन्द की अवस्था है। अब तो काफी समय हो चुका है। थोड़ी देर आप लेट जाइए।'

मैंने कहा—'लेटने की इच्छा ही नहीं हो रही है। मैं फिर ध्यान में बैठूंगा। तुम भी साथ-साथ ध्यान करो।' वहां जो अन्य साधु थे, उन्हें भी निर्देश दे दिया कि ध्यान करना हो तो बैठ जाओ, अन्यथा दूसरे कमरे में जाकर लेट जाओ। इस निर्देश पर मुनि मधुकर, मुनि बालचन्द, मुनि हीरालाल, मुनि मुदितकुमार आदि ध्यान में बैठने के लिए तैयार हो गए। मैं पट्ट से नीचे उतरा और बैठ गया। सोचा—'मुंह किधर किया जाए?' जिस ओर पहले मुंह था, उसी दिशा में यानी उत्तराभिमुख होकर मैंने इस बार सामूहिक ध्यान किया। डेढ़ से सवा दो-ढाई बजे तक यह क्रम चला। आनन्द की शृंखला अब तक टूटी नहीं थी, फिर भी मैंने ध्यान पूरा किया। महाप्रज्ञजी को लेटने का निर्देश देकर भेज दिया। उनके आग्रह पर मैं भी थोड़ी देर लेट गया। लेटने के बाद भी नींद नहीं आयी। प्रातः चार बजे उठा तो नींद न आने का बिल्कुल भी भार नहीं था।

१८ फरवरी को प्रातः 'सातड़ा' से चले और आठ किलोमीटर चलकर वीनासर पहुंचे। विगत तीन दिनों में चलने से जितनी थकान का अनुभव हुआ, उस दिन नहीं हुआ। मन पूरी तरह प्रसन्न रहा। शरीर में भी हल्कापन

रहा। यह सब क्या था? क्यों था? नहीं बता सकता। पूज्य गुरुदेव कालूगणी की स्मृति के कई चमत्कार अनुभव में है। उस दिन बिना स्मृति के अनायास ही जो चमत्कार हुआ, वह विलक्षण है। 'सातडा' की वह अपूर्व रात फिर कब आएगी, इस प्रतीक्षा मे श्रीमद् रायचन्द्र की एक पक्ति कानों मे गूंजने लगी है–'अपूर्व अवसर एवो क्या रे आवशे'[1]

१. १८ फरवरी को वीनासर मे यह पूरा प्रसग साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा को लिखाया।

विश्व-शान्ति का मूल मंत्र

प्रश्न : पंजाब समझौते मे आपकी भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। क्या यह सच है कि आपने आमेट-प्रवास के दौरान सन्त हरचन्दसिंह लोंगोवाल को उपदेश देकर उनका हृदय-परिवर्तन करने का प्रयास किया था?

उत्तर : यह सही है कि सन्त हरचन्दसिह लोगोवाल आमेट आए थे। उनके साथ घंटो तक हमारी बातचीत हुई। वार्तालाप के बाद उनकी मानसिकता बदली, यह भी प्रसिद्ध बात है। उन्होंने स्वयं अपनी अनेक सभाओ मे इस बात का उल्लेख किया था। वे आए और गए। इस अवधि में उनके विचारों में जो बदलाव आया, उसे लेकर वे खुद विस्मित थे।

प्रश्न : पजाब में आपकी रुचि रही है। वहा फिर हिंसा भड़क उठी है। क्या आप पुनः किसी शान्ति-प्रयास मे लगे है?

उत्तर : हमारी रुचि केवल पंजाब में ही नहीं, हर क्षेत्र में रही है। जहां कहीं हिंसा उग्र रूप लेती है, हम अपनी सीमा में रहते हुए काम करना चाहते है। वैसे छोटी-मोटी हिसक वारदातें तो किसी भी क्षेत्र मे होती रहती है। उनको तूल नही देना चाहिए। सामान्यतः हर प्रदेश की सरकार उन वारदातों को रोकने के लिए अपेक्षित कदम उठाती ही है।

प्रश्न : हिसा एक मनोवृत्ति बनती जा रही है। इसकी रामबाण औषध क्या है?

उत्तर : हिंसा जब स्वच्छन्द और उच्छृखल होकर आदमी की मनोवृत्ति बनने लगती है, तभी वह भयानक वनती है। उसकी रामवाण औषध है—हिंसक व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन।

प्रश्न : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारत के भविष्य की कैसी कल्पना है?

उत्तर : हम भविष्यभाषी नहीं, वर्तमान द्रष्टा हैं। वर्तमान में रहना और वर्तमान मे जीना—यह भी एक जीवन-शैली है। इसके अनुसार वर्तमान स्वस्थ है तो भविष्य को स्वस्थ होना ही होगा। इस दृष्टि से हम भारत के वर्तमान को स्वस्थ और सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। वर्तमान को संवारे बिना भविष्य को संवारने की बात केवल कल्पना ही हो सकती है।

प्रश्न : राजीव गांधी के प्रति आपका दृष्टिकोण क्या है?

उत्तर : इन वर्षो मे राजीवजी के साथ हमारी मुलाकात नहीं हुई। बिना मिले किसी भी व्यक्ति का सही अकन करना कठिन है। फिर भी दूर बैठे जो कुछ सुन रहे है, उनके कई विचार अच्छे हैं। पर विचारो की अच्छाई ही सब कुछ नही है। उससे आगे का कदम है—सही विचारों की क्रियान्विति। यह कठिन काम है। जब तक राजीवजी को पूरा तत्र अच्छा नही मिलता है, उनके विचारो का क्रियान्वयन भी कैसे हो सकेगा?

प्रश्न . अणुव्रत आन्दोलन के मूल उद्देश्य क्या हैं? क्या आप आन्दोलन की उपलब्धि के बारे में कुछ ठोस वाते वता सकते हैं?

उत्तर : अणुव्रत का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाना। उसे नैतिक और प्रामाणिक जीवन जीने का प्रशिक्षण देना। यह एक शुद्ध नैतिक आन्दोलन है और भारत का एकमात्र आन्दोलन है। यह जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, लिग, रंग आदि भेदभावों से ऊपर उठकर मनुष्य-मात्र को आत्मसंयम की ओर प्रेरित करता है। इसकी उपलब्धियों का कोई लेखा-जोखा हमारे पास नही है। फिर भी यह बात सही है कि इसने हजारो-हजारों लोगो के जीवन को बदला है। हजारो व्यक्ति व्यसन-मुक्त हुए है और रूढिमुक्त हुए हैं। छुआछूत की भावना समाप्त हुई है। राजस्थान के महिला-समाज का तो इसने कायाकल्प ही कर दिया है। एक विधवा बहन को जिस प्रकार की मानसिक यत्रणा भोगनी पडती थी, काले वस्त्र पहनना, महीनों-वर्षो तक कोने में बैठे रहना, उसे अमंगल मानना आदि अनेक कुप्रथाएं प्रायः समाप्ति पर है।

प्रश्न : भारत मे तेजी से पनपती पाश्चात्य सभ्यता, विज्ञान के विकास और भौतिकवाद से क्या धार्मिक मान्यताएं खत्म नही हो जाएगी?

उत्तर : संस्कृतियों और सभ्यताओं में सक्रमण होता रहा है। आज भी

हो रहा है। पाश्चात्य सभ्यता बिलकुल बुरी ही है, यह मैं नहीं मानता। उस सभ्यता में भी कुछ अच्छी बातें हैं, जिन्हें आत्मसात् कर भारत की सभ्यता समृद्ध हो सकती है। विज्ञान के विकास से धार्मिक आस्थाएं खत्म नहीं, परिष्कृत होंगी। भौतिकवाद का रास्ता वैसे ही निरापद नहीं है। भारत इन सब स्थितियों में अपने स्वतंत्र चिन्तन का विकास करके ही अपनी अलग पहचान रख सकेगा।

प्रश्न : मानवीय नैतिक मूल्यों का जिस तेजी से पतन हो रहा है, उससे आस्तिकवादी धर्म-संस्कृति क्या अप्रभावित रह सकेगी?

उत्तर : नैतिक मूल्यों की संस्कृति और धर्म की संस्कृति अलग हैं कहां? नैतिक मूल्यों का पतन होने से धर्म-संस्कृति का पतन स्वयं हो जाता है। वास्तव में आज धर्म अपने शुद्ध रूप में है कहां? वह उपासना और क्रियाकाण्डों का विस्तार-मात्र रह गया है। ऐसा धर्म न भी रहे तो उससे कोई बड़ा नुकसान होने वाला नहीं है। धर्म का सही स्वरूप है आचरण या पवित्रता। उसके रहते नैतिक मूल्यों का ह्रास संभव नहीं है। यदि भारत में आस्तिकवादी धर्म-संस्कृति को प्रतिष्ठित रखना है तो धर्म को आचरण से जोड़ना ही होगा।

प्रश्न : नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए क्या किसी धार्मिक आन्दोलन की जरूरत है? उसका स्वरूप कैसा हो?

उत्तर : नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए नैतिक आन्दोलन की जरूरत है। नैतिक और धार्मिक आन्दोलन का अस्तित्व भिन्न नही हो सकता। जिसमें सम्प्रदाय, क्रियाकाण्ड, उपासना आदि तत्त्वों की प्रधानता न रहे, वह आन्दोलन ही नैतिक या धार्मिक बन सकता है। उसकी आचार-संहिता के लिए अणुव्रत एक आदर्श हो सकता है।

प्रश्न : क्या इस दिशा में आप किसी विशेष अभियान मे जुटे है?

उत्तर : चरित्र-निर्माण की दृष्टि से हम अणुव्रत आन्दोलन को आगे बढ़ा रहे है। चरित्र-निर्माण के सूत्रों को आत्मसात् करने के लिए प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया को गतिशील बना रहे हैं। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के योग से नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना हो सकती है।

प्रश्न : आपके प्रवचनों में जैन दर्शन की अपेक्षा राष्ट्रीय विचारों का

अधिक समावेश है। शायद यही कारण है कि आप जैनाचार्य से अधिक राष्ट्र-संत के रूप में जाने जाते हैं। 'राष्ट्र' शब्द व्यापक वैचारिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है, लेकिन जैन धर्म में ही आपका सम्प्रदाय तेरापंथ के रूप में भिन्न अस्तित्व रखता है। क्या ये सब आपस में विसंगतियां नहीं हैं?

उत्तर : मेरे प्रवचनो में राष्ट्रीय विचारो का नहीं, मानवीय विचारों का समावेश रहता है। मुझे कोई राष्ट्र-संत माने या न माने, मैं अपने आपको मानवधर्म का प्रवक्ता मानता हूं। मानवीय मूल्यो की व्याख्या करके मै जैन धर्म और तेरापंथ के साथ भी न्याय ही करता हूं। मेरे अभिमत से तेरापंथ और जैन धर्म की विचारधारा मानव धर्म की विचारधारा है। जो विचारधारा जैसी है, उसे उस रूप में प्रस्तुति देना विसंगति कैसे हो सकती है? छुआछूत, जातिवाद, वर्गवाद, रूढिवाद आदि तत्त्व जैन धर्म में मान्य नही हैं। मानवधर्म भी यह कहता है। ऐसी स्थिति में जैन-तत्त्व के साथ जो अवांछित बातें जुड गई हैं, उन्हे दूर कर उसे मानवधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करना प्रत्येक जैन का कर्तव्य है।

प्रश्न : विश्व-शान्ति का मूल मंत्र क्या है?

उत्तर : विश्व-शान्ति का मूल मत्र है—कथनी और करनी की एकता। दूसरे शब्दो मे कहा जाए तो विचार और आचार की समानता। सामान्यतः व्यक्ति के विचार तो बहुत ऊंचे और अच्छे होते हैं, किन्तु उन पर अमल नहीं होता। यदि मनुष्य सार्वभौम नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा में समर्पित हो जाए, विलासी मनोवृत्ति से मुह मोड ले और भोगवाद के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण निर्मित कर ले तो विश्व-शान्ति के मार्ग की बाधाएं स्वयं दूर हो जाएंगी।

■ ■ ■